

वर्ष 4 अंक 7

जनवरी 2009

मूल्य विमर्श

नैतिक एवं मानवीय मूल्यों पर सार्थक संवाद की अर्द्धवार्षिक पत्रिका

मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र
(Malaviya Centre for Ethics & Human Values)
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय



मालवीय जी का विद्यार्थियों के लिए उपदेश

आपको यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यह देश आपका जन्मस्थान है। यह एक सुन्दर देश है। सभी बातों के विचार से इसके समान संसार में कोई दूसरा देश नहीं है। आपको इस बात के लिये कृतज्ञ तथा गौरवान्वित होना चाहिए कि उस कृपालु परमेश्वर ने आपको इस देश में पैदा किया। आपका इसके प्रति एक मुख्य कर्तव्य है। आपने इसी माता की गोद में जन्म लिया है, इसने आपको भोजन दिया, वस्त्र दिया तथा आपका पालन-पोषण करके आपको बड़ा बनाया है। यही आपको सब प्रकार की सुविधा, सुख, लाभ तथा यश देती है। यही आपकी क्रीड़ा-भूमि रही है और यही आपके जीवन का कार्यक्षेत्र बनेगी तथा आपकी सभी आशाओं तथा उमंगों का केन्द्र रहेगी। यही आपके पूर्वजों तथा जाति के बड़े-से-बड़े अथवा छोटे-से-छोटे मनुष्यों का कार्यक्षेत्र रही है। अतएव पृथ्वी के धरातल पर यही भूमि आपके लिये सबसे बढ़कर प्रिय और आदरणीय होनी चाहिए।

इसलिये जब कभी आपका देश आपसे किसी प्रकार की सहायता माँगे, उस समय आपको अपने कर्तव्य की पूर्ति के लिये सदैव प्रस्तुत रहना चाहिए। अपने देशवासियों से प्रेम करो तथा उनमें एकता का विकास करो। आप में सहनशीलता, क्षमा तथा निःस्वार्थ सेवा के महान् भाव के विकास की आवश्यकता है। हम लोग आपसे यह आशा करते हैं कि आप अपने छोटे भाइयों के उत्थान के लिये, अधिक-से-अधिक अपना समय तथा शक्ति लगावें। हम लोग आपसे आशा करते हैं कि आप उन्हीं के साथ मिलकर काम करें, उनके शोक तथा आनन्द में उनका हाथ बटावें, और उनके जीवन को दिनोदिन सुखमय बनाने का प्रयत्न करें।

मूल्य विमर्श

नैतिक एवं मानवीय मूल्यों पर सार्थक
संवाद के लिए अर्द्धवार्षिक पत्रिका

वर्ष-4 अंक-7

जनवरी 2009

सम्पादक

प्रो० सिद्धनाथ उपाध्याय
संयोजक
मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र

कार्यकारी सम्पादक

डॉ० धर्मेन्द्र कुमार मिश्र

सम्पादन सहयोग

डॉ० धर्मजंग

प्रकाशक

मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र
MALAVIYA CENTRE FOR ETHICS &
HUMAN VALUES

श्यामाचरण डे निवास, मालवीय भवन संकुल
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी - 221 005

दूरभाष : 0542- 6529917

आर्थिक सहयोग

श्री विश्वनाथ मंदिर, का०हि०वि०वि०

सहयोग राशि

एक प्रति - रु० 30/-

वार्षिक - रु० 50/-

टंकण सहयोग

यशवन्त सिंह

गणेशपुरी कॉलोनी, सुसुवाही, वाराणसी

इस अंक में

1. संपादकीय.....2-3
2. सुखी जीवन एवं समन्वित व्यक्तित्व
के आधारभूत मूल्य....प्रो० अजित नारायण त्रिपाठी.....4-11
3. शिक्षक एवं मानवीय मूल्य.....डॉ० राखी देब.....12-14
4. मूल्य शिक्षा : वर्तमान स्थिति एवं
औचित्य.....प्रदीप कुमार सिंह.....15-19
5. समग्र विकास के आयाम :
श्री अरविन्द घोष.....डॉ० दीपा मेहता.....20-21
6. भारतीय संस्कृति और शिक्षा.....डॉ० सुषमा जोशी.....22-25
7. जीवन के प्रति सकारात्मक
सोच एवं उत्साह.....प्रो० चन्द्रकला पाडिया.....26-29
8. शिक्षा तथा मानवीय मूल्य.....डॉ० प्रेम नारायण सिंह.....30-32
9. शिक्षा एवं जीवन दृष्टि : मनोवैज्ञानिक
दृष्टिकोण.....डॉ० दीपा रानी सक्सेना.....33-38
10. साहित्य और मूल्य.....डॉ० मधु कुशवाहा.....39-41
11. राज्य एवं शिक्षा.....डॉ० गोपाल प्रसाद नायक.....42-43
12. मूल्यों के अवमूल्यन में सामाजिक
दबाव की भूमिका.....डॉ० देवेन्द्र सिंह.....44-47
13. उच्च शिक्षा में मूल्यों का
संकट.....विनीता उपाध्याय.....48-50
14. अधिकार, कर्तव्य और सद्गुण.....डॉ० अर्चना.....51-52
15. वर्तमान शिक्षा प्रणाली
कितनी सार्थक?.....डॉ० पुष्पा देवी.....53-55
16. स्त्री के सामाजिक उत्थान में महात्मा गांधी
की प्रासंगिकता.....रिकी कुमारी.....56-59
17. नव भारत के निर्माण में युवा वर्ग की भूमिका : स्वामी
विवेकानन्द की आदर्श दृष्टि.....संध्या त्रिपाठी.....60-62
18. आतंकवाद और महात्मा गांधी.....पंकज कुमार सिंह.....63-64

सम्पादकीय

‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की अवधारणा को जन्म देने वाला हमारा देश अनेक तरह की समस्याओं से पीड़ित है। हमारे देश के समक्ष उत्पन्न समस्याओं में आतंकवाद, जातिवाद, भ्रष्टाचार, गरीबी आदि प्रमुख हैं।

आतंकवाद और नक्सलवाद की समस्या ने हमारे देश के शान्ति, अहिंसा और प्रेम के जीवन दर्शन को बुरी तरह प्रभावित किया है। जो देश बुद्ध और गाँधी के अहिंसा के सिद्धान्त को दुनियां को पढ़ाने का प्रयास कर हो, उसे ही अपने नागरिकों की रक्षा के लिए अपनी राष्ट्रीय आय का आधा से अधिक भाग खर्च करने को मजबूर होना पड़ रहा है। दैनिक समाचार पत्रों में सर्वाधिक प्रकाशित होने वाली घटनायें हत्या, मार-काट आदि से सम्बन्धित होती हैं।

मैं जब हिंसाजन्य घटनाओं के सन्दर्भ में सोचता हूँ, तब मेरा ध्यान धर्म की भूमिका की ओर चला जाता है। दुनियां में बहुत कम लोग ऐसे होंगे, जो किसी न किसी धर्म के अनुयायी न हों। धर्म की भूमिका मनुष्य को एक ऐसा मनुष्य बनाना है, जो मानवता अर्थात् परस्पर सहयोग, प्रेम-अहिंसा, करुणा एवं मैत्रीभाव के लिए जिये। परन्तु विकसित एवं विकासशील देशों की सैन्यशक्ति, आतंकवाद, युद्ध एवं घरेलू हिंसा के प्रतिशत को देखकर लगता है कि धर्म एवं धर्माचार्य अपनी सही भूमिका निभाने में असफल रहे। उदाहरण के लिए अशोक जैसा सम्राट भगवान बुद्ध के विचारों से प्रेरित होकर अहिंसा और प्रेम का प्रचारक बन गया। संतोष का विषय यह है कि सम्पूर्ण विश्व में एक मानवतावादी नये धर्म की स्थापना हेतु प्रयास शुरू हो गये हैं। स्वामी विवेकानन्द जी ने नये धर्म को योग के रूप में विकसित होने की भविष्यवाणी की है, जिसके संकेत दिखलायी पड़ रहे हैं। वर्तमान रूप में जितने भी धर्म अपने अस्तित्व रूप में विद्यमान हैं, वे तर्क की जगह आस्था पर अधिक केन्द्रित हैं। इसी कारण कट्टरता, जातिवाद, आतंकवाद, धर्मान्तरण जैसी समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं। योग पूर्णतया तर्क एवं प्रयोग पर आधारित है, इसलिए योग मानवतावादी धर्म के रूप में स्थापित होगा।

हमारे देश की दूसरी सबसे बड़ी समस्या भ्रष्टाचार की है। भ्रष्टाचार से तात्पर्य है पतित आचरण। जो व्यक्ति अपने नैतिक कर्मों, राष्ट्रीय दायित्वों से च्युत होता है, वही भ्रष्टाचार का वाहक बनता है। बड़े आश्चर्य की बात है कि भ्रष्ट आचरण भी इस देश का सबसे प्रबुद्ध, प्रतिभा सम्पन्न, शक्ति सम्पन्न व्यक्ति ही करता है। साधारण, निरक्षर गरीब जनता तो इनके साधन हैं। जो कुछ भी प्रकृति एवं राष्ट्र द्वारा इनके जीवनयापन के लिए निर्धारित किया गया है, उसी को यह प्रबुद्ध वर्ग अपने निजी स्वार्थ हेतु उपयोग कर ले रहा है। बड़े दुःख की बात है कि भ्रष्टाचार से न केवल मनुष्य प्रभावित हो रहे हैं, अपितु पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, नदी-तालाब भी प्रभावित हो रहे हैं। आज हमारी जितनी भी नदियां प्रदूषित हो रही हैं, उसका कारण हमारा भ्रष्ट आचरण एवं धार्मिक रूढ़िवादिता ही है। हमारे देश में वन विभाग, पशुपालन विभाग एवं जल संरक्षण-प्रदूषण विभाग के आँकड़े बताते हैं कि इन विभागों में सर्वाधिक भ्रष्टाचार है। भ्रष्टाचार जैसी बुराई को देखकर सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था की भूमिका पर ही प्रश्न चिन्ह खड़ा हो गया है।

हमारे देश की तीसरी सबसे बड़ी समस्या जातिवाद है। हमारे पूर्वजों ने व्यक्ति-व्यक्ति में जो भेद दिखाने का प्रयास किया था, उसी ने जातिवाद को जन्म दिया। वर्ण व्यवस्था की तर्क-संगत व्यवस्था एक

ऐसी विकृत व्यवस्था के रूप में रूपान्तरित हो गयी है, जो भारतीय सामाजिक व्यवस्था के लिए अभिशाप है। आज भारत जैसे देश में राजनीति की इमारत इसी बुराई की नींव पर खड़ी है।

आइये थोड़ा विचार करें कि इन समस्याओं से अपनी मानवीय सभ्यता और राष्ट्रीय व्यवस्था को कैसे उबारा जाय?

हम सभी लोग जानते हैं कि जब भी कोई नयी बीमारी जन्म लेती है, तभी से उसके रोकथाम हेतु नई-नई औषधियाँ खोजी जाने लगती हैं। औषधियाँ भी आयुर्वेद, होम्योपैथ, ऐलोपैथ, यूनानी, प्राकृतिक चिकित्सा एवं योग आदि के रूप में समाधान बनकर आती हैं। इसी तरह मानव आचरण के पतन व विवेक के दुरुपयोग के द्वारा उत्पन्न विभिन्न समस्याओं के समाधान हेतु विभिन्न उपाय खोजने आवश्यक हैं। वैसे इस दिशा में विभिन्न प्रयास सम्पूर्ण विश्व में प्रारम्भ हो गये हैं। मैं इस दिशा में निम्न उपायों को प्रारम्भ करने का विनम्र निवेदन करना चाहूँगा –

1. जो पीढ़ी अभी उपर्युक्त समस्याओं का हिस्सा नहीं है, उसका योग-साधना एवं मूल्य-शिक्षा द्वारा चारित्रिक विकास किया जाय। साथ ही साथ इस ज्ञान का उपयोग सामाजिक कार्यों में भी किया जाय।
2. जो लोग समस्या के हिस्से हैं, उनको कड़े कानून द्वारा सजा दी जाय। साथ ही साथ जो लोग इन समस्याओं को दूर करने के लिए प्रयत्नशील हैं, उनके द्वारा संगठन बनाकर समाज में शोषित, प्रभावित लोगों को जागृत कर दोषी लोगों के खिलाफ आन्दोलन खड़ा किया जाय।
3. रचनात्मक कार्यों द्वारा अहिंसा, प्रेम, करुणा आदि की स्थापना हेतु रचनात्मक क्रान्ति को जन्म दिया जाय। जैसा कि बुद्ध, गाँधी, महावीर आदि ने किया।
4. वर्तमान प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में बदलाव किया जाय। इसकी जगह प्रारम्भिक तीन वर्ष तक अक्षरज्ञान, प्रकृति-प्रेम, ध्यान-संगीत आदि के माध्यम से बच्चों के मस्तिस्क, हृदय का विकास किया जाय।
5. धर्म-शिक्षा को जीवन दर्शन के रूप में पढ़ाया जाय। सामाजिक रीति-रिवाज में उसके सही रूप को सम्मिलित किया जाय। इसी कारण हमारे विश्वविद्यालय के संस्थापक पूज्य मालवीय जी ने धर्म-शिक्षा को पाठ्यक्रम का अभिन्न अंग बनाया था।

उपर्युक्त सुझाव कोई नये नहीं हैं, बल्कि इस दिशा में विभिन्न लोग अपने स्तर से प्रयासरत भी हैं। जरूरत है, सभी को एक साथ मिलकर इस दिशा में प्रयास करने की। मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र ऐसे सभी रचनात्मक कार्यकर्ताओं, मूल्यनिष्ठ प्रबुद्धजनों का स्वागत करता है। ●

प्राचीन काल में, भारत न केवल सबसे पुराना देश था बल्कि सबसे सम्पन्न और विकसित देशों में से एक था। आज भारत की गिनती सबसे गरीब राष्ट्रों में की जा रही है। इस पतन के लिए जिम्मेदार कौन है? अलग-अलग लोगों के अनुसार इसके अलग-अलग कारण हैं, जैसे- भ्रष्टाचार, भ्रष्ट राजनेता, बढ़ती आबादी, जाति-धर्मों की बढ़ती संख्या और उनके बीच की विषमता। पर सही कारण है, मनुष्य द्वारा किए जाने वाले पाप। एक व्यक्ति से किया गया पाप उस अकेले के पतन का कारण बनता है, और जब देश के बहुत सारे लोग पाप करते हैं, तो वह पाप पूरे देश के पतन का कारण बन जाता है। कुल मिलाकर स्वार्थी और चरित्रहीन लोग हमारे देश के पतन के लिए जिम्मेदार हैं। —जे.पी. बालसुब्रह्मण्यम्

सुखी जीवन एवं समन्वित व्यक्तित्व के आधारभूत मूल्य

प्रो० अजित नारायण त्रिपाठी

आधुनिक जीवन के मूल्य-संकट का एक प्रमुख कारण यह है कि हमने अच्छे जीवन या सुखी जीवन के विचार को एक छोटे से दायरे में सीमित कर दिया है। प्रायः सुख और सुखी जीवन की कल्पना भौतिक जीवन और ऐन्द्रिक सुखों से ही संबंधित रहती है। सुखी व्यक्ति वह है जिसके पास नाना प्रकार की जीवनोपयोगी तथा भोग-विलास की वस्तुओं का संग्रह हो, उन्हें एकत्र करने की क्षमता हो, और उनका उपभोग करने के लिए पर्याप्त अवसर हो। पैसा, पद और प्रतिष्ठा से ही ऐसा जीवन मिल सकता है, अतः उनकी प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य मान लिया जाता है। सुखी जीवन की इस एकांगी धारणा के कारण हम अन्य जीवन मूल्यों के प्रति, जो मानव जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं, उदासीन होते जा रहे हैं। अधिकांश प्रबद्धजन ऐसी उदासीनता जानबूझकर नहीं अपनाते, बल्कि इसलिए कि उनको जीवन की व्यापकता को देखने, सोचने, समझने का कोई अवसर नहीं मिलता। उनकी शिक्षा-दीक्षा के सभी स्तरों पर—परिवार में, विद्यालय में, विश्वविद्यालय में—जीवन मूल्यों के चिंतन के लिए कोई प्रेरणा नहीं मिलती। मूल्यानुशीलन के अभाव में उनका मानवीय व्यक्तित्व पूर्णतया विकसित नहीं हो पाता।

‘जीवन मूल्य’ से तात्पर्य उन सभी मूल्यों से है जो मानव जीवन को सुसम्य, उत्कृष्ट एवं मूल्यवान बनाते हैं। मानव जीवन के अनेक आयाम हैं, और जीवन मूल्यों का संबंध इन सभी आयामों से है। इन सभी मूल्यों के चिंतन से, उनके प्रति संवेदनशील होने से और उनकी प्राप्ति के लिए सचेष्ट होने से जीवन का सर्वांगीण विकास होता है। ऐसा ही जीवन सुखी होता है और ऐसा ही व्यक्तित्व समन्वित।

अतः इस लेख में हम इन विभिन्न जीवन मूल्यों को अलग-अलग रेखांकित करके उन पर संक्षेप में विचार करना चाहेंगे।

जीवन के दो पक्ष हैं, एक बाह्य और दूसरा आंतरिक। अतः जीवन मूल्यों को भी इन दो श्रेणीयों में विभाजित करके समझा जा सकता है। श्रेणियों में विभाजन मात्र बौद्धिक विश्लेषण की सुविधा के लिए किया जा रहा है, जीवन की सम्ग्रता को खंडित करने की दृष्टि से नहीं। बाह्य जीवन के प्रसंग में हम भौतिक जीवन और सामाजिक जीवन से जुड़े मूल्यों पर, और आन्तरिक जीवन में, मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्यात्मक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की चर्चा करेंगे।

1. जीवन का भौतिक पक्ष और उसके मूल्य

भोजन, वस्त्र और आवास जीवित रहने के लिए प्राथमिक आवश्यकताएं हैं। आज भी मानव जाति का एक बड़ा वर्ग इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जीवन पर्यन्त संघर्ष करता रह जाता है। इनकी प्राप्ति ही उसके जीवन का प्रमुख मूल्य है। आर्थिक व सामाजिक विकास के वे सारे प्रयास और सारी विधाएँ जो इन भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होती हैं, उन्हें जीवन मूल्यों की श्रेणी में उचित सम्मान मिलना चाहिए। मूल्य चिंतन की परंपराओं में जीवन की भौतिक आवश्यकताओं और सुविधाओं के महत्त्व को तथा इनकी प्राप्ति के सहायक तत्त्वों—जैसे, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, वाणिज्य आदि—को प्रायः हेय दृष्टि से देखा जाता है। अभाव, दरिद्रता, आपदाओं, व्याधियों से जीवन को मुक्त कराने के प्रयासों की उपेक्षा करके परलोक सुधारने पर ध्यान केन्द्रित करने वाली मूल्य परंपराओं का आज समर्थन नहीं किया जा सकता।

प्राण-रक्षा की न्यूनतम आवश्यकताओं की प्राप्ति को ही सुखी जीवन की इति-श्री नहीं माना जा सकता। मानव सदा अपने ज्ञान और कौशल से भौतिक जीवन की गुणवत्ता को बढ़ाने का प्रयास करता रहा है। इन्हीं प्रयासों से सभ्यताओं का विकास हुआ। नाना प्रकार के व्यावहारिक ज्ञान-विज्ञान की प्रगति से विभिन्न जीवनोपयोगी उपकरणों का आविष्कार हुआ, जिनसे जीवन अधिक निरुपद्रव एवं सुविधाजनक बना। आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के आधार पर अनेक लोकोपयोगी सार्वजनिक सेवाओं का विकास हुआ, जैसे- स्वास्थ्य सेवाएँ, नागरिक सुविधाएँ, यातायात के साधन, संचार माध्यम आदि। इनसे जीवन को विस्तीर्णता मिली और मानव के सर्वांगीण विकास में आने वाली अनेक बाधाएँ दूर हुईं। अतः मानव-सुलभ भौतिक सुखाकांक्षाओं को भी सुखी जीवन का महत्वपूर्ण मूल्य मानना होगा। इनकी अनदेखी करने पर कोई भी मूल्य-व्यवस्था मात्र कोरी आदर्शवादिता रह जायेगी।

उपर्युक्त का यह आशय नहीं कि भौतिक सुख-सुविधाओं, और इन्द्रियगत भोग-विलास के नित नये साधनों को ही सुखी जीवन का पर्याय मान लिया जाय। ऐसा मान लेने के कारण ही आज के जीवन में भोगवादी संस्कृति का स्थान सुदृढ़ हुआ है। हमारी सभी चेष्टाएँ अधिकाधिक धनार्जन द्वारा इन सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के लिए ही होती जा रही हैं। यही जीवन का परम लक्ष्य बन गया है। भोग और लोभ की इन दुष्प्रवृत्तियों को उकसाकर, और उन्हें आधुनिकता का लबादा बनाकर हमारे ऊपर थोप रहे हैं आज के व्यापार, विज्ञापन, मीडिया और बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ। इनका लुभावना नारा है, जितना ही अधिक उपभोग, उतना ही अधिक ऊँचा जीवन का स्तर। इनके मोह में मानव अपनी व्यापक मूल्य चेतना को खोकर मात्र उपभोक्ता बनकर रह गया है। भौतिक उपकरण, सुख

-सुविधाएँ, अच्छे जीवन, सुखी जीवन के साधन न होकर उसके साध्य हो गये हैं। इस प्रवृत्ति के कारण आन्तरिक मूल्य गौण बन गये हैं। सुखी जीवन के व आधाभूत नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य, जो जीवन को मर्यादित करते हैं, आज तिरस्कृत होते जा रहे हैं।

2. सामाजिक जीवन और उसके मूल्य

मानव एक सामाजिक प्राणी है। उसके व्यक्तित्व के विकास में, जीवन मूल्यों की उपलब्धि में, समाज और सामाजिक जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान होता है। सुखी जीवन अथवा अच्छे जीवन की प्राप्ति अच्छे समाज में ही सुलभ होती है। अतः सामाजिक मूल्यों को समझने के लिए हमें पहले अच्छे समाज को व्याख्यायित करना होगा।

आधुनिक विचार में अच्छे समाज का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष है एक न्यायपूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था। यही भारतीय संविधान का पहला और सर्वाधिक सशक्त आधारस्तम्भ है। आज के जटिल, अंतर्सम्बन्धित समाज को चलाने के लिए, मानव कल्याण और उत्थान के लक्ष्य को पाने के लिए, सभी व्यक्तियों और वर्गों का उत्साहपूर्ण सहयोग आवश्यक है। व्यक्तियों और वर्गों का ऐसा सहयोग एक न्यायपूर्ण व्यवस्था के अंतर्गत ही हो सकता है। तब प्रत्येक व्यक्ति को यह विश्वास होगा कि केवल वही नहीं वरन सभी समाज के उत्थान में अपना उचित श्रम और सहयोग दे रहे हैं। और उससे भी अधिक महत्पूर्ण यह विश्वास होगा कि सामुदायिक सहयोग से प्राप्त उपलब्धियों में उसकी भी उचित भागीदारी होगी। साथ ही, एक अच्छे समाज में व्यक्ति की गरिमा का सम्मान होना चाहिए, और उसके नागरिक और मानवीय अधिकारों की सुरक्षा। समाज को चलाने की व्यवस्था में, उसके नीति निर्धारण में उसकी पूरी भागीदारी होनी चाहिए। शोषणमुक्त समतावादी

लोकतांत्रिक समाज की स्थापना इन्हीं मूल्यों के आधार पर होती है।

अच्छे समाज में सभी व्यक्ति समाज के प्रति अपने कर्तव्यों और दायित्वों को जानते हैं और उनका अनुपालन करते हैं। व्यक्तियों में सामाजिक दायित्वों के प्रति ऐसी जागरूकता एक अच्छे समाज का महत्वपूर्ण मूल्य है। इस सामाजिक चेतना की कमी आज के भारतीय समाज में सबसे अधिक खटकती है। अधिकांश पढ़े-लिखे भारतीय समाज से मात्र लेना ही चाहते हैं, उसे देना नहीं। इससे भी दुःखद स्थिति यह है कि सामाजिक जीवन के कई प्रभावशाली व्यक्ति अपने क्षुद्र व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए व्यापक सामाजिक हितों की बलि चढ़ाने में भी संकोच नहीं करते।

अच्छे समाज के निर्माण, संचालन और उत्थान में सर्वाधिक महत्त्व होता है सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि व्यवस्थाओं का और उनको संचालित करने वाले संस्थानों और संगठनों का। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ऐसी कई आधुनिक व्यवस्थाओं और संस्थाओं का गठन किया गया। इनके ढाँचे तो बन गए किन्तु इनसे जुड़े सेवा भाव आदि मूल्यों को स्थापित करने पर बल नहीं दिया गया और नहीं ही उनके सामाजिक दायित्व के निर्वहन को सुनिश्चित करने के लिए कारगर विधान बनाया गया। फलतः ये संस्थाएँ सत्ता, प्रभुत्व और अधिकार के केन्द्रों के रूप में ही अधिक विकसित हुईं, लोक कल्याण और लोक संग्रह के लिए कम। और अब तो ये प्रायः इनके तंत्र पर नियंत्रण पा लेने वाले राजनेताओं, सरकारी अधिकारियों, पूँजीपतियों आदि के स्वार्थ सिद्धि का माध्यम मात्र बनकर रह गयी हैं।

आज के प्रचलित समाज-दर्शन के सिद्धान्तों तथा विचारधाराओं का स्तर केवल राजनैतिक और आर्थिक धरातल तक ही सीमित रहता है। उनमें

नैतिक, आध्यात्मिक, मानवीय मूल्यों का समावेश नहीं होता। फलतः ये सत्ता, पूँजी, बाजार, अर्थव्यवस्था आदि के अंतर्संबन्धों के व्यावहारिक ज्ञान से ऊपर उठकर, मानव कल्याण के जीवन मूल्यों से अपने को नहीं जोड़ पातीं। आज एक ऐसे नये समाजशास्त्र को विकसित करने की आवश्यकता है जिसमें नैतिक और मानवीय मूल्यों का प्राधान्य हो। ऐसे 'अच्छे' समाज में व्यक्तियों, संस्थाओं, वर्गों आदि के पारस्परिक सम्बन्ध सौहार्द, सदभावना, मैत्री, प्रेम, कल्याण कामना, सर्वोदय आदि मानव मूल्यों से अधिक संचालित होंगे, संवैधानिक व्यवस्था, अधिकार, कानून, आर्थिक-राजनैतिक समीकरण, आदि से कम। ये मानवीय मूल्य केवल व्यक्तिगत जीवन के लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। सामाजिक संरचना और व्यवस्था की विधाओं को भी उन्हीं मूल्यों पर आधारित होना चाहिए। ऐसा अच्छा समाज अपने सभी सदस्यों की प्रतिभाओं को और उनके मानवीय व्यक्तित्व को सर्वोच्च स्तर तक विकसित करने के लिए अवसर, सुविधाएँ और प्रोत्साहन देगा। इसमें अशक्त और अक्षम व्यक्तियों के विकास की भी पूरी व्यवस्था होगी। सामाजिक समरसता, सहयोग, सामुदायिक जीवन-दृष्टि, इसके प्रमुख तत्त्व होंगे और इसमें परिवर्तन और स्थायित्व का उचित संतुलन होगा। ऐसे मूल्यनिष्ठ समाज में ही मानव कल्याण और मानव सुख की वास्तविक उपलब्धि हो पायेगी।

जीवन के इन दो बाह्य पक्षों के बाद अब हम मानव के आंतरिक जीवन से जुड़े मूल्यों की चर्चा करना चाहेंगे। एक बार पुनः स्मरण कर लेना चाहिए कि बाह्य जीवन और आंतरिक जीवन एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं, गुंथे हैं। बाह्य और आंतरिक का यह वर्गीकरण मात्र सुविधा के लिए है।

3. आंतरिक जीवन : मनोवैज्ञानिक मूल्य-दृष्टि
जीवन में सुख की अनुभूति बाह्य जीवन

की भौतिक और सामाजिक स्थिति से भी अधिक हमारी आंतरिक मनःस्थिति पर निर्भर करती है। आधुनिक मनोविज्ञान ने मन की आन्तरिक स्थिति को प्रभावित करने वाली मनोवृत्तियों का तथा मानव व्यक्तित्व के विभिन्न आयामों का गहन अध्ययन किया है। बीसवीं शताब्दी के मध्य तक ये अध्ययन प्रायः हमारे मनोविकारों—कुंठाओं, आंतरिक आवेगों, द्वंद्वों, सुषुप्त इच्छाओं, आदि—पर ही अधिक केन्द्रित रहते थे। किन्तु पिछले कुछ दशकों में मानव जीवन को सबल एवं मूल्यवान बनाने वाली धनात्मक प्रवृत्तियों और आंतरिक क्षमताओं को मनोवैज्ञानिकों ने अधिक महत्त्व दिया है। इन नये अध्ययनों से मानव जीवन और व्यक्तित्व के जो मूल्यगत स्वरूप रेखांकित हुए हैं उनके कुछ बिन्दुओं की चर्चा यहाँ करना चाहेंगे।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि में सुखी जीवन का प्रमुख कारक तत्त्व है मानसिक स्वास्थ्य। मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति ही जीवन का सही आनन्द उठा पाते हैं, अपनी प्रतिभाओं और क्षमताओं का पूर्ण विकास कर पाते हैं, और समाज में अच्छे मानवीय सम्बन्ध बना पाते हैं। ऐसे व्यक्तित्व के क्या लक्षण हैं? इस प्रश्न के उत्तर में मानसिक स्वास्थ्य के निम्नांकित छः प्रमुख कारक पाए गए हैं।

(i) परिस्थितियों का यथार्थ अवबोध : मानसिक रूप से असंतुलित व्यक्ति किसी घटना का दूसरों के कथन एवं कार्यों का, सामाजिक स्थिति का सही आंकलन नहीं कर पाते। प्रायः वे 'बात का बतंगड़' बना देते हैं। सामान्य सी बात में भी भयंकर निहितार्थ छुपे हुए देखते हैं और व्यर्थ की चिंताओं में उलझे रहते हैं। और जो वास्तविक रूप में गंभीर मसले हैं उनकी उपेक्षा कर जाते हैं।

(ii) आंतरिक संवेगों पर, उनकी अभिव्यक्ति पर, अपने व्यवहार पर आत्म-नियंत्रण : ऐसा न कर पाने वाले व्यक्ति, इच्छाओं की पूर्ति न होने पर अथवा अन्य प्रतिकूल परिस्थितियों में जल्दी ही

उत्तेजित हो जाते हैं और इस उत्तेजना में ऐसे कार्य भी कर बैठते हैं जो शान्त होने पर उन्हें स्वयं ही अनुचित लगते हैं। उनमें कठिनाइयों का सामना करने की क्षमता कम होती है।

(iii) अपने व्यक्तित्व का, अपनी क्षमताओं और कमजोरियों का सही आंकलन : आत्म-निरीक्षण द्वारा स्वयं अपने व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन कर पाना एक कठिन काम है। ऐसी क्षमता परिपक्व, विवेकी व्यक्तियों में ही दिखायी पड़ती है। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि सभी समस्याओं को समझने और उन्हें हल करने की शक्ति उनमें है। अपने को सर्वज्ञ और सर्व-समर्थ समझने वाले व्यक्ति प्रायः मूर्खतापूर्ण काम कर बैठते हैं और अनावश्यक मुसीबतों में फँस जाते हैं। इसके विपरीत आज के अधिकांश व्यक्ति, विशेषतः युवा वर्ग के, अपने को अनावश्यक रूप से कमजोर समझते हैं और नई दिशाओं में, नयी उपलब्धियों के लिये पहल करने में संकोच करते हैं। छोटी कठिनाइयाँ और चुनौतियाँ भी उन्हें ध्वस्त कर देती हैं। आत्मबल और आत्मविश्वास की यह कमी अविकसित व्यक्तित्व का लक्षण है। अपनी इच्छाओं को, अपने लक्ष्यों को, वे नहीं समझ पाते, अतः अपने जीवन के सामान्य से निर्णय लेने में भी उन्हें परेशानी होती है।

(iv) आत्म-स्वीकृति एवं आत्म-सम्मान : मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति स्वयं अपना मित्र होता है, आत्मद्रोही नहीं। अपने को जैसे है वैसे ही स्वीकार करता है, हर समय अपने से लड़ता नहीं रहता। वह अपने को, अपने जीवन को, अपनी प्रतिभाओं को महत्त्वपूर्ण और सार्थक मानता है। आत्म-ग्लानि या हीन भावनाओं से मुक्त होता है।

(v) दूसरों से मैत्रीपूर्ण, सुमधुर सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता : कई मनोवैज्ञानिक प्रेम को मानव अस्तित्व की सबसे बड़ी आवश्यकता मानते हैं। इसके बिना पारिवारिक और सामाजिक जीवन निष्प्राण हो जाता

है। प्रेम और उससे उत्पन्न सौहार्द, सहानुभूति, सहयोग, परस्पर कल्याण कामना आदि मूल्य ही वस्तुतः सर्वोच्च मानव मूल्य हैं। इनके अभाव में जीवन शुष्क हो जाता है और व्यक्ति मानसिक रूप से रूग्ण। ऐसे स्थिति में सुखी जीवन की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती।

(vi) सृजनात्मक एवं उत्पादक कार्य—व्यापार में लगे रहना : बेकार, निठल्ले बैठे रहना मानसिक स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। इससे नाना प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों एवं हीन भावनाओं का जन्म होता है। इसीलिए बेरोजगार नवयुवक और कई सेवानिवृत्त व्यक्ति प्रायः दुःखी रहते हैं। कार्य—व्यापार मात्र जीविकोपार्जन के लिए ही नहीं होने चाहिए। ऐसे कार्यों में भी रुचि और समय लगाना आवश्यक है जिनसे समाज का भला होता है, सामुदायिक जीवन की गुणवत्ता बढ़ती है, अपने व्यक्तित्व और प्रतिभाओं का विकास होता है।

परम्परिक भारतीय चिंतन ने मानव के अंतर्मन और उसकी मनोवृत्तियों को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि मनोविकारों को सबसे बड़ा शत्रु कहा गया है। बुद्ध ने तृष्णा को हमारे सभी दुःखों का मूल माना। जीवन को उत्कृष्ट बनाने के लिए, आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए आत्मसंयम, इन्द्रियनिग्रह, आत्म-शुद्धि आदि को अनिवार्य जीवन मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया। इनकी प्रगति के लिए दार्शनिक चिंतन के साथ ही साथ ध्यान, योग—साधना आदि के व्यावहारिक शास्त्रों का भी विकास किया गया।

4. सौंदर्यबोधात्मक मूल्य

सौंदर्यानुभूति और सौन्दर्य के प्रति आकर्षण मानव का आन्तरिक स्वाभाव है। इस अनुभूति से जीवन सरस होता है और उसमें उल्लास आता है। प्रकृति में बिखरे नाना प्रकार के सौन्दर्य—फूलों के

रंग, गंध, कोमलता, पर्वत श्रेणियों का उतार-चढ़ाव, बादल की धूप-छाँव, बलखाती नदियों का प्रवाह, झरनों की कलकल, समुद्र की लहरें, सूर्योदय एवं सूर्यास्त के दृश्य, पूर्णिमा के चाँद की शीतलता, मन को मोह लेते हैं। ऐसा ही सौन्दर्यबोध जीवन में होता है। सोते बच्चे की मुस्कान, नवयौवना की चितवन, माता का दुलार व जीवन की परिपक्वता को दर्शाती वयोवृद्ध के चेहरे की झुर्रियाँ, सलीके से रहने—जीने की अदा, ये सभी मन को सुन्दर लगते हैं, प्रिय लगते हैं। इसी सौन्दर्य की खोज और उसकी अभिव्यक्ति साहित्य, संगीत और कलाओं में होती है। भारतीय सांस्कृतिक सोच में इन कलाओं के प्रति अभिरुचि, उनके रसास्वादन की प्रवृत्ति, सुसम्भ्य व्यक्तित्व का प्रमुख लक्षण है। संस्कृत की उक्ति है—

साहित्य संगीत कला विहीन;

साक्षात् पशुः पुच्छ विषाणहीनः।

कुछ उपयोगितावादी जन सौन्दर्यानुभूति और कलात्मक अभिरुचियों को आमिजात्य वर्ग के मनोरंजन का साधन मात्र मानते हैं। उनकी दृष्टि में साधारण जन के जीवन में सौन्दर्यबोध का कोई मूल्य नहीं है, या है भी तो गौण। किन्तु यह विचार यथार्थ के विपरीत लगता है। लोककलाओं का बाहुल्य, उनकी विविधता और सहजता, सर्वसाधारण में सौन्दर्यात्मक प्रवृत्तियों को दर्शाती है। कला के व्यापारीकरण से, कलाकारों के व्यक्तिगत अहंकार और कृत्रिमता से अप्रभावित ये कलाएँ रसानुभूति एवं सुखानुभूति की सशक्त धाराएँ हैं। आर्थिक रूप से विपन्न जन के जीवन में भी उनका बड़ा मूल्य है। आदिम युग में भी मानव न केवल जीवनोपयोगी उपकरणों का निर्माण करता था, वरन उन्हें सजाता था, उन पर नक्काशी और चित्रकारी करता था। गुफाओं में रहने वाले मनुष्य में भी कला के प्रति प्रेम था।

सौन्दर्य क्या है, उसके क्या अवयव हैं, सौन्दर्यानुभूति के क्या प्रकार हैं, आदि प्रश्नों के

विवेचन से सौन्दर्यशास्त्र का विकास हुआ है। भारतीय परंपरा में इसकी चर्चा हजारों वर्षों से चली आ रही है। इस धारा में नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, संगीतशास्त्र, यहाँ तक कि कामशास्त्र के ग्रन्थों की रचना हुई। किन्तु वास्तविक रूप से सौंदर्यबोध, शास्त्रीय विवेचना का विषय न होकर, अनुभूति एवं भावना का विषय है। इसका आनन्द उठाने के लिए सहृदय, सुसंस्कृत और रसिक होना चाहिए, न कि ज्ञानी अथवा शास्त्री। सौन्दर्यबोध के संस्कारों को परिष्कृत करके सुरुचि का विकास करना व्यक्तित्व निर्माण का एक आवश्यक पक्ष है।

5. नैतिक मूल्य

नैतिक मूल्यों से प्रेरित और नैतिक आचरण से नियमित व्यक्तिगत और सामाजिक कार्य—कलाप सुखी जीवन के आधार स्तम्भ है। नैतिक चेतना मानव की सहज प्रकृति है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ इस चेतना का भी विकास और विस्तार हुआ। दार्शनिकों और मनीषियों ने अपने चिंतन से उन सिद्धान्तों एवं नीतियों की स्थापना की जिनसे उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि का सही निर्णय हो सके, और जिनसे संचालित होकर व्यक्तिगत और सामुदायिक जीवन सभी के लिये हितकर हो। भारतीय मूल्य परम्परा में इन नीतियों को धर्म का प्रमुख अंग माना गया है। आधुनिक युग में इनका तार्किक विवेचन कर एक स्वतन्त्र नीति-शास्त्र (ethics) की रचना की गई। लोक व्यवहार और सामाजिक व्यवस्थाएं जब इन नैतिक सिद्धान्तों के अनुरूप होती हैं तब जीवन सुखी होता है और व्यक्ति की मानवीय गरिमा का उत्कर्ष होता है।

अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर परार्थ का चिंतन करना नैतिकता की मूल भावना है। विश्व की सभी सभ्यताओं में यही बात दुहराई गयी है। भारतीय मूल्य चिंतन की धार्मिक शब्दावली में इसे इस प्रकार कहा गया है :

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अथवा

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

यही बात ईसा मसीह कहते हैं :

Do unto others as you would that they do unto you. आधुनिक नीतिशास्त्र में भी इसे नैतिकता का स्वर्णिम सिद्धान्त माना गया है।

आज के जीवन में, जहाँ हर पग पर मूल्यों का टकराव होता रहता है, नैतिक निर्णय ले पाना एक जटिल कार्य है। इसलिए नैतिकता के मूल सिद्धान्तों का विस्तार और उनकी व्याख्या ऐसी होनी चाहिए जिससे आज की समस्याओं का समाधान ढूढ़ने में आसानी हो। व्यक्तिगत सच्चरित्रता और सदाचार के साथ ही साथ, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, वृत्ति-व्यवसाय आदि के क्षेत्रों में नैतिक निर्णय किस आधार पर, और कैसे लिए जाएं, इन पर आज चिंतन की अधिक आवश्यकता है। इन क्षेत्रों से जुड़ी संस्थाओं के कार्यकलापों का नैतिक मूल्यांकन जितना अधिक जटिल है उतना ही अधिक आवश्यक भी।

६- आध्यात्मिक मूल्य

आध्यात्मिक चिंतन का प्रारम्भ ऐसे तात्त्विक प्रश्नों से होता है जो जीवन के अंतिम सत्य का अनुसंधान करते हैं— मानव का, जीव का, संसार का यथार्थ क्या है? मानव का वास्तविक स्वरूप क्या है? बाह्य जगत का वास्तविक यथार्थ क्या है?, आदि। इस चिंतन से एक समग्र जीवन-दर्शन स्थापित होता है जो मानव जीवन के सभी मूल्यों को प्रभावित करता है। भारतीय मनीषा ने तात्त्विक प्रश्नों को सर्वाधिक महत्त्व दिया है और इनसे प्राप्त आध्यात्मिक मूल्यों को सर्वोच्च जीवन मूल्य के रूप में स्थापित किया है।

उपनिषदों के आध्यात्मिक चिंतन में मानव जीवन के तीन प्रमुख स्तर माने गए हैं। पहला स्तर शरीर और इन्द्रियों का है। शरीर भौतिक पदार्थों से बनता है, उसका जन्म होता, वह बढ़ता है और अंत में नष्ट हो जाता है। इस स्थूल स्तर के ऊपर एक सूक्ष्म स्तर है मनस् का— मन, बुद्धि, चेतना, इच्छा, कल्पना, कामना आदि का। इसी से समस्त शारीरिक, ऐन्द्रिक एवं मानसिक कार्य संचालित होते हैं। मनस् की विकास प्रक्रिया में संस्कार, ज्ञान, अनुभव आदि की विभिन्नताओं के कारण व्यक्तियों का अलग-अलग विशिष्ट व्यक्तित्व विकसित होता है। मानव अस्तित्व का सर्वोच्च स्तर है आत्मा का। समस्त शारीरिक एवं मानसिक कार्य—कलापों का आत्मा ही साक्षी है, किन्तु इन सबसे वह निर्लिप्त है। यही मानव का वास्तविक स्वरूप है। इस आत्मिक स्तर पर सभी मानव एक हैं क्योंकि उनमें स्थित आत्मतत्त्व एव सर्वव्यापी परमात्मा का ही अंश है। वही परमात्मा सभी जड़ चेतन पदार्थों में भी व्याप्त है। वही विश्वात्मा है, वही परब्रह्म है। इस एकात्म भाव का ज्ञान सर्वोच्च ज्ञान है, और वही जीवन का मुख्य प्रयोजन और चरम मूल्य है। इस आत्मज्ञान से ही जीवन वास्तविक रूप से सुखी हो सकता है। ब्रह्म के सगुण—निर्गुण रूप, जीव और जगत से सम्बन्धों के स्वरूप, आदि पर मतभेद के कारण विभिन्न दार्शनिक शाखाओं, पंथों, जीवन पद्धतियों का विकास हुआ।

दार्शनिक और तात्त्विक चिंतन के साथ ही साथ भारतीय परंपरा ने आत्मज्ञान की प्राप्ति के व्यावहारिक पक्ष का भी चिंतन किया। इसके अनुसार आध्यात्मिक मूल्योपलब्धि के कई मार्ग हो सकते हैं जिनमें चार प्रमुख हैं— ज्ञानयोग, राजयोग, भक्तियोग और कर्मयोग।

आध्यात्मिक मूल्यों द्वारा संचालित जीवन जीने वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व की कुछ प्रमुख

बातें इस प्रकार कही जा सकती हैं :

(i) आध्यात्मिक पूर्णत्व की प्राप्ति के बाद उन्हें अन्य सांसारिक उपलब्धियों की इच्छा नहीं होती। तुलसी के शब्दों में, 'काहूँ सो कछु न चहौँगो'। किन्तु वे इस चरम आत्मोपलब्धि के बाद निष्क्रिय नहीं हो जाते। वे बिना किसी स्वार्थ या कामना के पूर्णतया 'लोग संग्रह' के लिए समर्पित होते हैं— 'सर्वभूतहिते रताः' हो जाते हैं।

(ii) वे 'जीवन मुक्त' होते हैं, अर्थात् सभी मानवीय बंधनों और सीमाओं से मुक्त। उनके जीवन व्यवहार आंतरिक मूल्यों से संचालित होते हैं, बाहर से आरोपित नियम—कानूनों से नहीं।

(iii) समस्त जीवों की एकता को समझ लेने के बाद उनमें अपने 'स्व' के प्रति आहंकारिक भाव नहीं रहता। वे अपने को सभी प्राणियों में देखते हैं और सबको अपने में। अतः उनके मन और व्यवहार में लोभ, क्रोध, घृणा आदि दुर्गुणों के लिए कोई स्थान नहीं होता। सभी के प्रति प्रेम, करुणा, मैत्री भावना आदि उनके व्यवहार में स्वतः प्रवाहित होते हैं।

भारतीय जीवन—दृष्टि में आदर्श व्यक्तित्व और आदर्श जीवन का यह स्वरूप अनेक महापुरुषों के जीवन में चरितार्थ होता रहा है। आधुनिक युग में भारत के 'नवजागरण' के सभी अग्रदूतों—विवेकानन्द, अरविन्द, गांधी, विनोबा, मालवीय, टैगोर आदि ने इन्हीं मूल्यों को अपना आदर्श माना। इस आध्यात्मिक प्रेरणा ने उन्हें केवल व्यक्तिगत आत्मोपलब्धि के लिए ही नहीं, वरन् महानतम मानव सेवा एवं सामाजिक उत्थान के लिए शक्ति दी।

प्रायः आध्यात्मिकता को आस्था—विश्वास, परम्परागत पूजा—उपासना पद्धति और धार्मिक मान्यताओं की सीमित दृष्टि से देखने की भूल की जाती है। तब आध्यात्मिकता और रिलिजन के अर्थ वाली पंथिक धार्मिकता में कोई अंतर नहीं रह जाता। ऐसा करने से आध्यात्मिक मूल्यों का क्षेत्र

संकुचित हो जाता है। वे व्यक्ति की पूर्णता, प्राणिमात्र की एकता और सर्वोच्च मानव मूल्यों— प्रेम, स्वातंत्र्य, विवेक— का स्रोत न होकर भजन—पूजन द्वारा परलोक सुधारने का साधन मात्र बन जाते हैं।

७— उपसंहार

मानव जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए उपर्युक्त सभी मूल्यों की प्राप्ति आवश्यक है। इनके सुंदर संतुलन से जीवन सुखी होता है और व्यक्तित्व समन्वित। केवल एक—दो मूल्य—आयामों को, जैसे केवल भौतिक जीवन के मूल्यों को अथवा इसके विपरीत केवल आध्यात्मिक मूल्यों को, एकमात्र मूल्य मान लेने से जीवन असंतुलित हो जाता है। आज के जीवन का प्रमुख मूल्य संकट यह है कि व्यवहार के स्तर पर तो हम केवल भौतिक मूल्यों की प्राप्ति के प्रयास करते हैं पर आदर्श के स्तर पर केवल आध्यात्मिक मूल्यों की चर्चा करते हैं। इस पाखंड से व्यक्तित्व खंडित हो जाता है और जीवन तनावपूर्ण। जीवन मूल्यों का उनकी व्यापकता और समग्रता में अनुशीलन ही इस व्यथा से मुक्ति का मार्ग दिखा सकता है।

भारतीय मूल्य—व्यवस्था के पुरुषार्थ—चतुष्टय का आदर्श जीवन मूल्यों की व्यापकता और समग्रता का सशक्त प्रतिपादन करता है। मानव जीवन को सुखी और उत्कृष्ट बनाने वाले सभी श्रेय और प्रेय मूल्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की श्रेणियों के अंतर्गत समाहित होते हैं। इन श्रेय और प्रेय मूल्यों के संतुलित अनुशीलन से मानव जीवन सुखी होता है और व्यक्तित्व समन्वित। पारंपरिक मूल्य चिंतन में व्यक्ति के उत्कर्ष को ही अधिक महत्त्व दिया गया है, अच्छे समाज के निर्माण हेतु मूल्यगत सिद्धान्तों के विकास पर कम। अतः आज सर्वाधिक आवश्यकता इस बात की है कि आज के जीवन की समस्याओं को ध्यान में रखते हुए, आज की और आने वाले कल की चुनौतियों का सामना करने के

लिए एक नये समाज दर्शन का विकास किया जाए। इस दर्शन का विकास भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों और आधुनिक मानवतावादी मूल्यों के सम्मिलित आलोक में होना चाहिए। ●

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए महामना को कौन सी कठिनाई नहीं सहनी पड़ी? व्यंग, तिरस्कार, भर्त्सना, निरादर सब कुछ सहना पड़ा। वे जानते थे, देश का कल्याण शिक्षा के अभाव में कदापि संभव नहीं हो सकता। उन्होंने राजा रंक सबसे विश्वविद्यालय के लिए सहयोग माँगा। सभी धर्म एवं संप्रदाय के लोगों ने अपना योगदान किया। विश्वविद्यालय की आवश्यकता और उसके महत्त्व का विस्तृत प्रचार महामना ने देश भर में घूम-घूम कर किया। उनकी इस पुकार में लोगों ने स्वर मिलाया और विश्वविद्यालय की स्थापना का शुभारम्भ हो गया। महामना हिन्दू विश्वविद्यालय को पूजा की वेदी और तपस्या का स्थान मानते थे। उन्होंने विश्वविद्यालय को जीवनपर्यन्त एक मंदिर की दृष्टि से देखा। कभी भी इसे अपना निजी या अपना आर्थिक साधन नहीं समझा। करोड़ों रुपया माँग कर सरस्वती के देवालय के निर्माण में खर्च किया, पर उसमें से एक पैसा भी निजी काम में खर्च करना वे अनुचित ही नहीं, अधर्म भी समझते थे। महामना दूरदर्शी थे। मनुष्य को पहचानने और किससे कौन सा काम लिया जा सकता है, इसे समझने में माहिर थे। वे श्रीमद्भगवद्गीता के कर्मवाद के सफल पोषक थे। अपने जीवन के आदर्शों में सर्वश्रेष्ठ आदर्श गीता के कर्मवाद को ही मानते थे तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हर विद्यार्थी से यही आशा भी करते थे।

महामना के प्रेरक प्रसंग 'खण्ड'— 3

(पेज सं० 410 से)

शिक्षक एवं मानवीय मूल्य

डॉ० राखी देब
श्री शैलेन्द्र वर्मा

शिक्षा प्रत्येक सामाजिक संरचना का एक अभिन्न अंग है। जिस समाज में शिक्षा का अधिक प्रचार-प्रसार होगा, वह समाज उतना ही उन्नतशील एवं विकसित होगा। यही कारण है कि प्रत्येक समाज एवं देश की यह आकांक्षा रहती है कि वहाँ शिक्षा स्तर उच्चतम स्थिति में पहुँचे। भारत वर्ष को आदिकाल से ही विश्वगुरु का दर्जा प्राप्त है। भारत में शिक्षा के उत्कर्ष को लेकर विगत कई वर्षों से गहन चिंतन मनन किया जा रहा है। शिक्षा स्तर के उन्नयन हेतु विभिन्न आयोगों का गठन किया गया है, जिनसे प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि शिक्षा के स्तर के उन्नयन में समाज के विभिन्न सदस्यों की भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ हैं।

शैक्षिक प्रक्रिया में अभिभावक अप्रत्यक्ष रूप से तथा शिक्षक प्रत्यक्ष रूप में अपनी भूमिकाओं का निर्वहन करते हैं। अतः शैक्षिक प्रक्रिया के उन्नयन एवं अवनयन के लिए शिक्षक मुख्य रूप से उत्तरदायी है। शिक्षक से समाज को कई अपेक्षाएँ होती हैं तथा एक आदर्श शिक्षक, छात्र के प्रत्यक्ष सम्पर्क में होने के कारण छात्र के चरित्र निर्माण के लिए समाज के अन्य सदस्यों की तुलना में अधिक जिम्मेदार होता है। शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में शिक्षक एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में अहम् भूमिका का निर्वहन करता है, जिसकी निपुणता, शिक्षण क्षमता व आदर्श व्यक्तित्व पर शिक्षा का स्तर निर्भर करता है।

एक कुशल शिक्षक अच्छे छात्र एवं नागरिक का निर्माण करता है। शिक्षक वास्तव में एक ऐसा कारीगर होता है, जिसके हाथों से ही देश की नींव का निर्माण होता है। एक कुशल शिक्षक ही किसी देश को उन्नति के राह पर ले जाने में सक्षम

होता है, जबकि इसके विपरीत एक अकुशल एवं रुग्ण व्यक्तित्व का शिक्षक किसी भी देश को अवनति के द्वार पर ही ले जाता है। एक शिक्षक अपना कार्य पूर्णनिष्ठा, लगन एवं परिश्रम से करते हुए योग्य भावी पीढ़ी का निर्माण कर सके इसके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक में वांछित मूल्यों एवं शिक्षण के प्रति सकारात्मक अभिवृत्ति का विकास हो। शिक्षण को एक कला माना जाता है और कला को उत्पन्न नहीं किया जा सकता है। यह तो जन्मजात होती है।

व्यक्ति का व्यवहार उसके मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक वातावरण से प्रभावित होता है एवं एक अच्छे शिक्षक के लिए जो आवश्यक मूल्य एवं अभिवृत्ति हैं, वह कुछ विशेष परिस्थिति में ही विकसित हो सकते हैं। यह सर्वमान्य सत्य है कि अभिवृत्ति व्यक्ति की मूल्य व्यवस्था (Value System) से उत्पन्न होती है, जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव शिक्षक के शिक्षण कार्य एवं शैक्षिक निष्पादन पर होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि किसी भी शिक्षक का शिक्षण कार्य, शिक्षण व्यवहार एवं शिक्षण शैली उसके मूल्यों एवं अभिवृत्ति पर आधारित होती है। अतः यह स्पष्ट है कि एक शिक्षक में वांछित मूल्यों के साथ-साथ शिक्षण कार्य के प्रति सकारात्मक अभिवृत्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है।

अब प्रश्न यह उठता है कि 'मूल्य' क्या हैं और एक शिक्षक को अपने भीतर किन मूल्यों को संरक्षित एवं संवर्धित करना चाहिए। वस्तुतः मूल्य एक मानक रूपी मानदण्ड हैं, जिनके आधार पर मनुष्य अपने सामने उपस्थित क्रिया कलापों में से कार्य का चयन करने में प्रभावित होता है। "मूल्य एक सामान्य एवं अमूर्त गुण हैं जो किसी चीज में

निहित होते हैं और उसके महत्त्व या गुरुत्व की ओर संकेत करते हैं।" इस प्रकार उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मूल्य एक अमूर्त सम्प्रत्यय हैं, जिनका सम्बन्ध मनुष्य के भावात्मक पक्ष से होता है जो उसके व्यवहार को नियंत्रित एवं निर्देशित करते हैं।

छात्रों में सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों का विकास करना शिक्षण के प्रमुख उद्देश्यों में से एक है। परिवार एवं विद्यालय द्वारा यह प्रयास किया जाता है कि बालक में अधिकतम नैतिक मूल्यों का विकास हो सके ताकि बालक वांछित एवं अवांछित तत्वों में विभेद कर सके। नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों के विकास हेतु विद्यालय एवं घर में उचित वातावरण का होना अत्यन्त आवश्यक है। घर एवं विद्यालय में उचित वातावरण के न होने पर भावी नागरिकों में सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था विकसित नहीं हो पाती है तथा समाज में अराजकता एवं विघटन की स्थिति पैदा होने की सम्भावना बढ़ जाती है। इस प्रकार की भयावह स्थिति के लिए घर में अभिभावक तथा विद्यालय में शिक्षक पूर्णतया उत्तरदायी हैं। अतः आवश्यक है कि शिक्षक स्वयं को आदर्श रूप में प्रस्तुत करे ताकि छात्र उसका अनुकरण करते हुए स्वयं को आदर्श नागरिक बना सकने में समर्थ हो सके।

भारतीय मनीषियों ने मूल्यपरक जीवन शैली को जीने का मन्तव्य दिया है। भारतीय मनीषियों द्वारा उद्घाटित सार्वभौमिक, शाश्वत एवं सनातन मूल्यों को यदि समाज के समस्त सदस्यों, विशेषकर शिक्षक द्वारा अंगीकार कर लिया जाये तो शैक्षिक वातावरण को निश्चित ही नवीन आयाम प्राप्त हो सकेगा।

एक शिक्षक जो राष्ट्र निर्माता होता है, में विभिन्न मानवीय मूल्य जैसे दया, करुणा, सहयोग, सौन्दर्यात्मकता, भातृत्व, सामंजस्य, सादगी, मितव्ययिता, सह-अस्तित्व की भावना एवं प्रेम का

होना अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय साहित्य में 'दया' को सामाजिक जीवन का आधार बताया गया है। 'दया' से आशय समाज के कमजोर, गरीब, असहाय की संस्थिति के आधार पर उसके प्रति ममत्व भाव की भावना रखने से है। विद्यालय में छात्र पूर्णतया शिक्षक पर आश्रित होते हैं। अतः शिक्षक का यह पुनीत कर्तव्य होना चाहिए कि वह बिना भेदभाव किए समस्त छात्रों के प्रति 'दया' का भाव रखे तथा एक समान रूप से उन्हें विकसित होने का सुअवसर प्रदान करे ताकि एक कल्याणकारी समाज की स्थापना हो सके।

भारतीय मूल्यों में 'करुणा' वह मूल्य है जो भयावह, संत्रास एवं दुःख से वशीभूत व्यक्तियों एवं परिस्थितियों के प्रति द्रवीभूत होने एवं उनके प्रति स्नेह रखने के मन्तव्य को परिपूरित करता है। विद्यालय में विभिन्न सामाजिक-आर्थिक स्तर के छात्र अध्ययन हेतु आते हैं। अतः शिक्षक को समस्त छात्रों के प्रति करुणा का भाव रखते हुए विद्यादान करना चाहिए। यदि इस मन्तव्य को शिक्षक समुदाय हृदयंगम कर ले तो निश्चित रूप से शैक्षिक वातावरण को अप्रतिम ऊँचाइयों तक ले जाया जा सकेगा।

शैक्षिक वातावरण को स्वस्थ व सुन्दर बनाने में शिक्षक की महती भूमिका होती है। अतः एक शिक्षक में सौन्दर्यानुभूति का होना अत्यन्त आवश्यक है। सत्यम् शिवम् एवं सुन्दरम् जैसे मूल्य से यह प्रतिध्वनित होता है कि जो शिव (अच्छा) होता है, वह सुन्दर होता है और सभी के लिए मनोहारी एवं प्राप्ति की अभिलाषा से युक्त होता है। भारतीय सद्साहित्यों में सौन्दर्य का उपासक बनने का मन्तव्य दिया गया है, न कि उनकी प्राप्ति की अभिलाषा और उनका प्रयोग करने की। शिक्षक के सौन्दर्यबोध युक्त होने पर वह छात्रों को प्रकृति के निकट ले जाने एवं प्रकृति का अनुसरण करने की प्रेरणा दे सकता है। वह छात्रों में यह भाव विकसित

कर सकता है कि हमें प्रकृति की भांति बिना भेदभाव के सभी के साथ व्यवहार करना चाहिए।

सौन्दर्यानुभूति के साथ-साथ शिक्षक में भातृत्व भाव का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। भातृत्व भाव से आशय साथ-साथ चलने एवं मित्रवत भावना रखने से है। वर्तमान समय में प्रजातांत्रिक जीवन शैली का अभिन्न अंग 'भातृत्व' ही है। शिक्षक में भातृत्व भाव के होने से वह छात्रों के साथ मित्रवत व्यवहार कर उनके जीवन में आने वाली कठिनाइयों के निराकरण में मदद करते हुए उन्हें एक सही दिशा में ले जाने में मदद कर सकेगा। भातृत्व के साथ-साथ शिक्षक में सहयोग की भावना का होना भी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि 'सहयोग' जैसे मूल्यों के अनुरूप जीवन यापन करना ही भारतीयों की प्राचीन काल से नियति रही है। 'सहयोग' रूपी मूल्य की सहायता से शिक्षक समाज के विभिन्न अंगों से सामंजस्य स्थापित कर समाज को एक नवीन दिशा प्रदान कर सकता है।

'सादगी' एक ऐसा जीवन मूल्य है जिसके बिना शिक्षक के होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। भारतीय मनीषियों ने "सादा जीवन उच्च विचार" रखने एवं सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करने का ही संदेश दिया है। आज समाज में भौतिक लिप्सा से वशीभूत होकर प्राकृतिक तत्त्वों, सामाजिक तत्त्वों, एवं शैक्षिक तत्त्वों, जो उपादेय एवं आकर्षक हैं, उन्हें अपने जीवन में लाने एवं उपभोग करने की प्रवृत्ति विकसित हो गयी है। यह लिप्सा समाज को अनेक प्रकार से प्रदूषित कर रही है। अतः एक शिक्षक में 'सादगी' नामक जीवन मूल्य का होना अत्यन्त आवश्यक है। सादगी के साथ-साथ शिक्षक को 'मितव्ययी' भी होना चाहिए। यह कहा जाता है कि "विद्या खर्च करने पर बढ़ती है किन्तु अर्थ (धन) खर्च करने पर घटता है।" इसलिए विद्या बांटो जोर से किन्तु पैसा, समय बांटो सोच कर।

शिक्षक के मितव्ययी होने का प्रत्यक्ष प्रभाव समाज पर पड़ता है। अतः शिक्षक का मितव्ययी होना अत्यन्त आवश्यक है।

उपर्युक्त मानवीय मूल्यों के अतिरिक्त जो सबसे महत्त्वपूर्ण भारतीय मूल्य है वह है 'प्रेम'। प्रेम ही विश्व का आधार है। प्रेम पर ही मानव सभ्यता विकसित होती है। अतः प्रेम ही सर्वस्व है। मनुष्य को मनुष्य से, पशु-पक्षियों से, वनस्पतियों से एवं सृष्टि के नियामक समस्त तत्त्वों से प्रेम करना चाहिए एवं उनके प्रति समर्पित होना चाहिए। 'प्रेम' से ही ममत्व, वात्सल्य, करुणा एवं परमार्थ जैसे मूल्य व्यवहारिक रूप से उपादेय बनते हैं। 'प्रेम' जैसे उदात्त मूल्य की भारतीय सदसाहित्यों में अनेक दृष्टि से व्याख्या की गयी है और ऐसे अनेक दृष्टान्त सन्निहित हैं, जो प्रेम के आत्मसातीकरण का संदेश देते हैं। अतएव शैक्षिक वातावरण के संरक्षण एवं संवर्धन को भी प्रेम के आधार पर ही विकसित किया जा सकता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षक व छात्र परस्पर प्रेम एवं स्नेह रखें तथा साथ-साथ एक दूसरे के विकास में सहायता दें।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि शिक्षक, जो भावी पीढ़ी का निर्माता होता है, उसमें विभिन्न प्रकार के जीवन मूल्यों का समावेश होना समाज के हित के लिए अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय सदसाहित्यों ने शिक्षक में विभिन्न मूल्यों की आवश्यकता पर जोर दिया है। आज आवश्यकता यह है कि शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों में, जहाँ शिक्षक बनाये जाते हैं, मूल्यों को पाठ्यक्रम में उचित स्थान दिया जाये तथा शिक्षक प्रशिक्षक इस बात का प्रयास करें कि प्रशिक्षणार्थियों में अधिक से अधिक मूल्य विकसित हो सकें ताकि जब वे प्रशिक्षणार्थी शिक्षक बनकर समाज की सेवा करें तब वे एक स्वस्थ समाज के निर्माण में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकें। ●

मूल्य शिक्षा : वर्तमान स्थिति एवं औचित्य

प्रदीप कुमार सिंह

भूमिका :

विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं ने मूल्य के सन्दर्भ में अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं। भारतीय समाज मुख्यतः आदर्शवादी समाज रहा है। अतः भारतीय समाज मूल्यों को शाश्वत, सार्वभौमिक तथा आंतरिक मानता है। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय, संयम, दान, दया, परहित, वसुधैव-कुटुम्बकम्, न्याय, भातृत्व, धर्मनिरपेक्षता आदि ऐसे मूल्य हैं जो सभी समाजों एवं देश-काल के लिये अनुकरणीय हैं। लेकिन जिस प्रकार से पश्चिमी संस्कृति के अवांछित तत्वों के भारतीय समाज के ऊपर प्रभाव (विशेषकर युवा वर्ग पर), संचार साम्राज्यवाद (पश्चिमी देशों का विश्व के संचार माध्यमों पर एकाधिकार) तथा विद्यालयों में मूल्य शिक्षा की समुचित व्यवस्था न होने एवं विद्यालयीय पाठ्यक्रम को धर्मों की शिक्षा से अलग रखने के कारण मूल्यों का तीव्र गति से ह्रास या क्षरण हो रहा है। इस मूल्य ह्रास से भारतीय समाज को बचाने या आवश्यक मूल्यों को संरक्षित करने हेतु विद्यालयों में मूल्य शिक्षा की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए एवं विद्यालयों के वातावरण को मूल्योचित रूप देने का सार्थक प्रयास किया जाना चाहिए।

प्रायः विद्यालयों में मूल्य शिक्षा अथवा नैतिक शिक्षा को महत्त्व नहीं दिया जाता है, विद्यालयों का वातावरण दूषित है एवं बहुत सारे अध्यापकों का व्यवहार अनुकरणीय नहीं होता। डॉ० झा (2002) के अनुसार 'हमारे समाज, संस्कृति में कौन से मूल्य हैं, जिन्हें समझने अपनाने पर हमें विचार करना चाहिए। इसे अच्छी तरह समझने के लिए हमें वर्तमान भारतीय समाज को समझना होगा। यदि वर्तमान भारतीय समाज को देखें तो निम्न बातें स्पष्ट रूप से

सामने आती हैं— प्रथम: यह समाज अपने अंदर विरोधाभासों एवं द्वन्द्वों के चरम ज्वार को समेटे जी रहा है। एक ओर सम्पन्नता एवं विलासिता में डूबे चंद लोग तथा उच्च मध्यम वर्ग की जीवन शैली और दूसरी ओर गरीबी, बेकारी, भूख एवं अभाव से ग्रस्त बहुत बड़ी निम्न वर्गीय आबादी। दूसरी: भारतीय संस्कृति में सांस्कृतिक सहनशीलता की जगह लेती असहनशीलता की संस्कृति का बढ़ना। तृतीय: लैंगिक असमानता से हमारा समाज मुक्त नहीं हो सका है। चतुर्थ: भौतिकतावादी/भोगवादी संस्कृति का भारतीय समाज में तीव्र गति से बढ़ना। देश में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का बढ़ता शिकंजा, भूमण्डलीकरण का दौर, अति भड़कीली टेलीविजन संस्कृति तथा हिंसक फिल्मों के निर्माण का बढ़ना निःसंदेह हिंसा, विभ्रंशलन या भ्रष्टाचार को बढ़ावा दे रहा है।'

आज के बच्चे इन कड़वी सच्चाइयों के साथ बड़े हो रहे हैं। बच्चों को हम एक नई दुनिया देना चाहते हैं तो हमें एक ऐसी शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी जो प्रगतिशील तथा उदारवादी मूल्यों के द्वारा निर्देशित, समानता व विविधता के प्रति संवेदनशील हो, सामान्यपूर्ण जीवन शैली को बढ़ावा देने वाली हो तथा साथ ही साथ शाश्वत मूल्यों को संरक्षित करती हो। इस लेख में मूल्य शिक्षा के संबंध में विचार व्यक्त किया गया है।

मूल्य शिक्षा की वर्तमान स्थिति :

वर्तमान में विद्यालय मूल्यों की शिक्षा के प्रति सचेष्ट नहीं हैं। विद्यालयीय पाठ्यक्रम में मूल्यों की शिक्षा के प्रति यथेष्ट सामग्री नहीं है। शिक्षक एवं अभिभावक बालकों के मूल्यों की शिक्षा के प्रति उदासीन हैं। शिक्षा नीति निर्धारक एवं प्रशासक भी

इस तरफ ज्यादा ध्यान नहीं देते। विद्यालयीय शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा में मूल्य शिक्षा पर बल दिया गया है लेकिन राष्ट्रीय पाठ्यचर्या को सभी राज्य अनिवार्य रूप से लागू नहीं करते। इसका मुख्य कारण नीतिगत एवं प्रशासनिक खामी है। इस प्रकार विद्यालय एवं परिवार द्वारा मूल्यों की शिक्षा के प्रति सचेष्ट न होने के कारण भी मूल्यों का क्षरण हो रहा है। कुछ विद्वानों का मानना है कि मूल्यों का विकास हो रहा है न की क्षरण। यह सत्य है कि वर्तमान में मूल्यों में परिवर्तन हो रहा है। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि यह मूल्यों का परिवर्तन वांछित दिशा में ही हो, यह अवांछित दिशा में भी हो सकता है। बहुत से पश्चिमी संस्कृति के ऐसे तत्वों का अंधानुकरण हो रहा है जो हमारे समाज, सभ्यता एवं संस्कृति के अनुरूप नहीं हैं। इसके साथ ही साथ हमने पश्चिम से बहुत सारे वांछित मूल्यों को भी प्राप्त किया है। इस तरह से मूल्यों के क्षरण को रोकने के लिए परिवर्तित होते मूल्यों के साथ हमें यह देखना है कि जो हमारे शाश्वत मूल्य हैं वे बने रहें तथा वांछित सामाजिक मूल्यों का विकास हो सके।

मूल्य शिक्षा का औचित्य :

प्रत्येक व्यक्ति का व्यवहार अप्रत्यक्ष रूप से मूल्यों द्वारा नियंत्रित होता है। व्यक्ति के अन्दर जिस तरह के मूल्य होंगे, उसका व्यवहार भी उसी तरह का होगा। इसलिए समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिए बालकों में वांछित सामाजिक एवं राष्ट्रीय मूल्यों को आत्मसात करने की क्षमता पैदा की जानी चाहिए। इसलिए व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए मूल्यों की शिक्षा आवश्यक है। मूल्यों की शिक्षा की आवश्यकता एवं महत्त्व को ध्यान में रखकर ही विभिन्न आयोगों ने इसकी शिक्षा पर बल दिया है। रविन्द्र अग्निहोत्री के अनुसार माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952-53) ने कहा है कि

चरित्र निर्माण की दृष्टि से अनुशासन, धर्म, शिक्षा एवं नैतिक शिक्षा आवश्यक है। इसमें यह भी कहा गया है कि विद्यालयों में जहाँ भी संभव हो धार्मिक शिक्षा ऐच्छिक आधार पर दी जानी चाहिए। शिक्षा आयोग (1964-1966) ने भी कहा है कि महान धर्मों की नैतिक शिक्षाओं द्वारा सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा देने का संगठित प्रयास किया जाना चाहिए। आयोग ने इन मूल्यों की औपचारिक शिक्षा की भी आवश्यकता अनुभव की। उसमें आगे लिखा है कि स्कूल के समय में प्रति-सप्ताह एक या दो घंटे नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा के लिए होना चाहिए। नई शिक्षा नीति (1986) में भी मूल्यों की शिक्षा के संबंध में निम्न विचार दिये गये हैं—

(1) इस बात पर गहरी चिन्ता प्रकट की जा रही है कि जीवन के लिए आवश्यक मूल्यों का हास हो रहा है और मूल्यों पर से ही लोगों का विश्वास उठता जा रहा है। शिक्षाक्रम अथवा पाठ्यक्रम में ऐसे परिवर्तन की जरूरत है जिससे सामाजिक और नैतिक मूल्यों के विकास में शिक्षा एक साधन बन सके।

(2) हमारा समाज सांस्कृतिक रूप से बहु आयामी है, इसलिए शिक्षा के द्वारा उन सार्वजनिक और शाश्वत मूल्यों का विकास होना चाहिए जो हमारे लोगों को एकता की ओर ले जा सकें। इन मूल्यों से धार्मिक अंध विश्वास, कट्टरता, असहिष्णुता, हिंसा और भाग्यवाद का अन्त करने में सहायता मिलनी चाहिए।

(3) इस संघर्षात्मक भूमिका के साथ-साथ मूल्य शिक्षा का एक गंभीर सकारात्मक पहलू भी है, जिसका आधार हमारी सांस्कृतिक विरासत, राष्ट्रीय लक्ष्य और सार्वभौम दृष्टि है, जिस पर मुख्य तौर से बल दिया जाना चाहिए।

इस तरह मूल्यों का क्षरण रोकने, राष्ट्रीय संस्कृति को बनाये रखने, शाश्वत मूल्यों को संरक्षित रखने तथा वांछित मूल्यों के विकास हेतु मूल्य शिक्षा

अतिआवश्यक है।

मूल्य शिक्षा किस प्रकार दी जाय :

मूल्यों की शिक्षा किस प्रकार दी जाय इसपर विभिन्न दृष्टिकोण दिये गये हैं। किन्हीं विद्वानों एवं विचारकों का मत है कि मूल्य शिक्षा को पाठ्यक्रम में स्थान प्रदान कर मूल्य की शिक्षा दी जाय। वहीं कुछ अन्य विद्वान एवं विचारक मानते हैं कि मूल्यों की शिक्षा अनुकरण द्वारा दी जाय और इसके लिए शिक्षक को मूल्यों का स्रोत होना चाहिए। इसके अन्तर्गत शिक्षक एवं विद्यालय के स्वस्थ वातावरण को भी महत्त्व दिया गया है। कुछ विद्वानों ने उपर्युक्त विचारों के समन्वय की बात कही है। मेरे विचार से यही दृष्टिकोण ज्यादा सही जान पड़ता है। चूँकि मूल्यों का विकास बालक के जन्म लेने से लेकर मृत्यु तक अनवरत रूप से होता रहता है। अतः पूर्व विद्यालयी अवस्था में माता-पिता एवं परिवार को मूल्यों का स्रोत होना चाहिए। जब बालक विद्यालय जाने लगता है तो मूल्य स्रोत शिक्षक, माता-पिता एवं परिवार, सामाजिक पर्यावरण एवं विद्यालयीय पाठ्यक्रम हो जाते हैं। विद्यालयीय शिक्षा के राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2000) में कहा गया है कि “चूँकि भारत आध्यात्मिक सहअस्तित्व का एक सर्वाधिक उदात्त प्रयोग है, अतः सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों एवं धर्मों के विषय में शिक्षा पूरी तरह से घर एवं समुदाय के भरोसे नहीं छोड़ी जा सकती।—इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि भारतीय विद्यालयीय पाठ्यचर्या में मूलभूत मूल्यों को अन्तर्निहित करना तथा देश के सभी प्रमुख धर्मों के संबंध में चेतना को एक केन्द्रिय घटक के रूप में शामिल किया जाय।”

“किसी भी स्तर पर मूल्य शिक्षा और धर्मों के बारे में शिक्षा अलग से अध्ययन या परीक्षा के विषय नहीं होंगे। इन दोनों का समन्वय समस्त शैक्षिक विषय क्षेत्रों और सहशैक्षिक विषय क्षेत्रों में

इतने औचित्य के साथ होगा कि उनमें निहित उद्देश्यों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कक्षाओं में, सभास्थलों पर, खेल के मैदानों में, सांस्कृतिक केन्द्रों एवं ऐसे ही अन्य स्थानों पर प्राप्त किया जा सके।”

“विद्यालयी शिक्षा के बहुत प्रारम्भिक चरण में ही मूल्य शिक्षा के प्रसार संबंधी एक समग्र कार्यक्रम को विद्यालयी पाठ्यचर्या के नियमित अंग के रूप में शुरू करना अनिवार्य है।—माध्यमिक एवं उच्चतर-माध्यमिक स्तर पर धर्मों के दर्शन (फिलॉसोफी) का तुलनात्मक अध्ययन शुरू किया जा सकता है।”

बालक की शैशवावस्था एवं बाल्यावस्था मूल्य निर्माण की आधारशिला होती है एवं किशोरावस्था में यह चरम पर पहुँचने लगता है। इस दृष्टि से शैशवावस्था में बालक की मूल्य शिक्षा हेतु माता-पिता, परिवार एवं समाज की जिम्मेदारी होती है। यहाँ माता-पिता, परिवार एवं समाज का अपने कार्यों, गतिविधियों एवं सामाजिक वातावरण पर उपयुक्त नियंत्रण होना चाहिए, जिससे बालकों में उपयुक्त मूल्यों का विकास हो सके। चूँकि बालकों में अनुकरण की प्रवृत्ति होती है और वे बड़ों द्वारा प्रदर्शित कार्यों का ही अनुकरण करते हैं, अतः बड़ों द्वारा प्रदर्शित व्यवहार एवं कार्य ही उनके लिए मूल्य मानक बन जाते हैं। शैशवावस्था में बालक के मूल्यों की शिक्षा अनौपचारिक रूप से अचेतन रूप में चलती है फलतः बालकों के सामने उपयुक्त व्यवहार एवं कार्य के नमूने पेश किये जाने चाहिए।

बाल्यावस्था में बालक विद्यालय जाने लगता है। अब यहाँ परिवार एवं प्राथमिक शिक्षक मूल्यों के स्रोत हो जाते हैं। यहाँ मूल्य शिक्षा अनौपचारिक एवं औपचारिक दोनों रूपों में चलती है। इस अवस्था में शिक्षकों को मूल्यों की शिक्षा हेतु प्रतिदिन कुछ समय निर्धारित कर कुछ सार्वभौमिक मूल्यों को लिखवाना एवं स्मरण करवाना चाहिए। साथ ही

साथ सरल शब्दों में प्रवचन रूप में समझाना भी चाहिये। इसके अलावा सामूहिक खेलों, सांस्कृतिक गतिविधियों एवं सामूहिक कार्यों के माध्यम से बालकों में मूल्यों के विकास का प्रयास किया जाना चाहिये। साथ ही साथ शिक्षकों को अपने व्यवहार को अनुकरणीय रखने का प्रयास करना चाहिये।

चूँकि बालक की किशोरावस्था सभी क्षमताओं के विकास हेतु संक्रमण काल होती है। जीवन के आदर्श बालक इसी आयु में अपनाता है। यही वह आयु होती है जब बालक के चरित्र पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। इसे परिवर्तन का काल कहा गया है। ए०के० सिंह (1998) के अनुसार बिगे एवं हन्ट (1965) ने कहा है कि "किशोरावस्था की विशेषताओं को सर्वोत्तम रूप से व्यक्त करने वाला एक शब्द है— परिवर्तन। यह परिवर्तन शारीरिक भी होता है, सामाजिक भी और मनोवैज्ञानिक भी।" अतः इस अवस्था में मूल्य विकास हेतु विशेष प्रयास किये जाने चाहिये। इसी अवस्था में बालक अपने मूल्यों को संगठित कर व्यवस्थित करता है। इस अवस्था में बालक की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं तथा देश एवं समाज की आवश्यकता के अनुरूप सभी अनुशासनों के पाठ्यक्रम के विषयों में कुछ सामान्य मूल्यों को शामिल किया जाना चाहिये। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) के राष्ट्रीय पाठ्यक्रम संरचना में भी 'सभी विषयों में एक सामान्य केन्द्रिक (कामन-कोर) रखने की बात कही गयी है। इनके द्वारा राष्ट्रीय मूल्यों को हर इंसान की सोच और जिन्दगी का हिस्सा बनाने की कोशिश की गयी है। इन राष्ट्रीय मूल्यों में हमारी सांस्कृतिक धरोहर, लोकतन्त्र, धर्मनिरपेक्षता, लिंग समानता, पर्यावरण संरक्षण, सामाजिक समता, सीमित परिवार का महत्त्व, वैज्ञानिक तरीकों पर अमल आदि को शामिल किया गया है।' इसी में आगे 'शिक्षा द्वारा वसुधैव कुटुम्बकम् की भारतीय भावना को बढ़ाने पर भी बल दिया गया

है। मूल्य शिक्षा के लिए इस अवस्था में किसी विशेष घण्टे की जरूरत नहीं है, क्योंकि पाठ्यक्रम का हिस्सा होने पर मूल्य शिक्षा बालक को अपने आप अप्रत्यक्ष रूप से मिलती रहेगी।' इसके अलावा कार्यानुभव एवं समाज सेवा को पाठ्यक्रम का अभिन्न अंग बनाया जाना चाहिए। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मूल्य शिक्षा हेतु अध्यापक को मूल्यों का स्रोत होना चाहिए क्योंकि, यदि अध्यापक का व्यवहार स्वयं ही अनुकरणीय नहीं होगा तो बालकों पर उसका प्रभाव ऋणात्मक होगा। शिक्षक या अध्यापक वह है जो छात्रों को मूल्यों के लिए सचेष्ट करके संकल्पित कर दे। इस तरह से किसी समाज के जितने श्रेष्ठ मूल्य हैं, उनका बोध शिक्षा द्वारा होगा इसलिए शिक्षक को भी मूल्य का स्रोत होना पड़ेगा। शिक्षक मूल्यों को तीन तरह से प्राप्त करा सकता है—

- (1) मूल्यों की समझ देने के लिए मूल्य प्रणाली के स्पष्टीकरण द्वारा।
- (2) मूल्यों के उन्मुखीकरण (Orientation) द्वारा।
- (3) मूल्यों के अनुशीलन द्वारा।

मूल्य प्रणाली परिवर्तित होती है, जैसे-जैसे उसके क्रम में, महत्त्व में परिवर्तन होता है तो समाज भी परिवर्तित होता है। आपदा, वाह्य आक्रमण आदि भी मूल्यों में परिवर्तन करते हैं। इन बदलते मूल्यों में शिक्षक को देखना है कि शाश्वत मूल्य बने रहें। इस तरह से वर्तमान में छात्रों में उपयुक्त मूल्यों के विकास हेतु संस्कारी एवं योग्य शिक्षकों के चयन की आवश्यकता है। अक्सर समाचार पत्रों में किन्चित शिक्षकों द्वारा यौन शोषण, जातीय भेदभाव एवं साम्प्रदायिक भेदभाव फैलाने की खबर छपती रहती है। ये बालकों में वांछित मूल्यों के विकास के लिये नितान्त अवांछनीय हैं।

डा० झा (2002) के अनुसार "सच्चाई यह है कि सभी महान शिक्षाविदों गांधी से लेकर श्री अरविन्द ने बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि

मूल्यों को पढ़ाया या परीक्षा के जरिये थोपा नहीं जा सकता। मूल्यों को जीवन में, व्यवहार में उतारना होगा। चंद योगाभ्यास की कक्षाएँ, अपने आपको भारतीय संस्कृति का विशेषज्ञ समझने वाले व्यक्तियों के नैतिक उपदेशों — जैसे औपचारिक प्रयासों से मूल्यों का वास्तविक बोध नहीं हो सकता।

निष्कर्ष :

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वर्तमान में मूल्यों के ह्रास अथवा क्षरण को रोकने, बदलते सामाजिक परिवेश में नये सामाजिक मूल्यों

के विकास तथा शाश्वत एवं सार्वभौमिक मूल्यों के संरक्षण हेतु बालकों को मूल्य शिक्षा दी जानी चाहिए। मूल्य शिक्षा हेतु विद्यालय में किसी विशेष घंटे एवं परीक्षा की आवश्यकता नहीं है। मूल्य शिक्षा को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाना चाहिए, विद्यालय के वातावरण को मूल्योचित बनाना होगा, शिक्षक को मूल्यों का स्रोत होना होगा एवं इसके लिए उन्हें मूल्यों को जीवन एवं व्यवहार में उतारना होगा। साथ ही साथ परिवार एवं समाज के सामाजिक वातावरण को मूल्योंमुख बनाना होगा। ●

मालवीय जी अपने धर्म पर अडिग रहते हुए भी दूसरे धर्मावलंबियों का आदर और सम्मान करते थे। जहाँ वे शारीरिक शौच के लिए गंगा जी की मिट्टी लेकर विलायत गये वहीं देश के प्रत्येक आन्दोलन में, प्रत्येक कठिन परिस्थिति में, मैदान में आगे बढ़ कर बड़े से बड़े त्याग करने में कभी पीछे नहीं रहते थे। धर्म और देश उनके लिए समानार्थक थे। उनसे मतभेद रखने वाले प्रतिपक्षी भी उनकी प्रशंसा करते थे, क्योंकि वे जो कुछ करते परोपकार की भावना से करते थे, उसमें प्यार और निःस्वार्थता का पूरा समावेश होता था। मालवीय जी का हृदय बड़ा कोमल और भावनाएँ उदार थीं। उदारता और परोपकार ही उनका धर्म था। इन्हीं विशेषताओं के कारण पचास-साठ वर्ष तक धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में काम करने के बाद भी उनका कभी किसी से मनोमालिन्य अथवा द्वेष भाव नहीं हुआ। भारतवासी ही नहीं, श्री सी.एफ. एन्ड्रूज जैसे भारतभक्त अंग्रेज ने तो यहाँ तक लिखा— “जो लोग उनके निकट संपर्क में आए उन्होंने उनको अत्यंत सौम्य और आकर्षक ही पाया। कोई भी व्यक्ति यहाँ तक कि स्वयं महात्मा गाँधी भी, असंख्य हिन्दू जनता को इतने प्रिय नहीं जितने कि मालवीय जी हैं।”

मालवीय जी का चरित्र हम सबके लिए यह शिक्षा देता है कि सामान्य धार्मिक या सामाजिक मतभेदों पर अधिक जोर देना या उनके कारण अपनी शक्ति और समय को बर्बाद करना बुद्धिमानी का चिह्न नहीं है। इन विषयों में लोगों के विचारों और व्यवहार में भिन्नता होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सब मनुष्य कभी एक विचार के नहीं हो सकते, पर यदि इस प्रकार के अंतर को महत्त्व देकर हम स्वयं सत्य और न्याय के सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए अपने मार्ग के अनुसार ही लोगों की भलाई के कार्य करते रहें तो हमारा जीवन अवश्य सार्थक हो सकता है। सच्चे काम करने वाले और उदार चरित्र सज्जनों की प्रशंसा अपरिचित और विरोधी भी करते हैं।

महामना के प्रेरक प्रसंग ‘खण्ड’-3

(पेज सं0 409 से)

समग्र विकास के आयाम : श्री अरविन्द घोष

डॉ० दीपा मेहता

डॉ० आलोक गार्डिया

विश्व-श्रेष्ठ अध्यात्म भूमि भारतवर्ष अनेकों धर्मों, संस्कृतियों, दर्शनों एवं संतों की जननी है। इसी पवित्र धारा पर पंद्रह अगस्त अद्वारह सौ बहत्तर ईस्वी को महायोगी श्री अरविन्द घोष का जन्म हुआ। महान कवि, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, समाजसुधारक संत एवं शिक्षाविद् श्री अरविन्द घोष के नाम का अर्थ 'कमल' है जो 'दैनिक चेतना' का सूचक है। अपने जीवन का अधिकतम महत्त्वपूर्ण भाग उन्होंने आध्यात्मिक साधना, समग्र योग, समग्र शिक्षा तथा वास्तविक शिक्षा के विकास एवं प्रचार-प्रसार में बिताया। उनके जीवन का अंतिम ध्येय भारतीय सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, नैतिक आदि पक्षों का आध्यात्मिक पुनर्जागरण करना था। योग, समाज, संस्कृति, राष्ट्र, अध्यात्म एवं शिक्षा आदि विषयों पर उनका लेखन अद्वितीय है। वे स्वयं भारतीय दर्शन, संस्कृति एवं साहित्य आदि में दखल रखते थे।

श्री अरविन्द के अनुसार प्रत्येक मानव के जीवन का अंतिम उद्देश्य आध्यात्मिक सम्पूर्णता की प्राप्ति है, तथा इस हेतु योग ही सर्वथा उपयुक्त माध्यम है। योग से उनका तात्पर्य केवल कुछ विशिष्ट शारीरिक मुद्राओं (आसन) या प्राणायाम से नहीं है, वे मानते हैं कि ईश्वर के समक्ष बिना किसी शर्त या इच्छा के सर्वस्व समर्पण करना ही वास्तविक योग है। योग आत्मा का परमात्मा से अनन्त मेल है। अपने समस्त कार्यों एवं कर्तव्यों का आध्यात्मिक भाव से, निर्लिप्त मन से पालन करते हुए अपने राष्ट्र एवं विश्व के लिए जीना योग है। यह योग सांसारिक जिम्मेदारियों से बचकर अस्तित्व में नहीं आता है।

योग संबंधी उनके विचार भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान द्वारा कर्मयोग संबंधी उपदेशों से मेल खाते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार समग्र योग वह है जो जीव के उस साक्षात्, शाश्वत, अनन्त परमब्रह्म सच्चिदानंद प्रभु के समीप लाता है। वे समग्र योग द्वारा मानस से अतिमानस में तथा मानव को अतिमानव से रूपांतरित करना महत्त्वपूर्ण मानते थे। अतिमानस ही मानव एवं सच्चिदानंद ईश्वर के मध्य एक सेतु है जिसका विकास समग्र योग द्वारा किया जाना चाहिए। जब मानव आत्मा अतिमानस की स्थिति में आ जाती है तो उसके लिए आध्यात्मिक श्रेष्ठता तक पहुँचना संभव हो जाता है।

समग्र विकास हेतु शिक्षा भी एक सशक्त माध्यम है। श्री अरविन्द के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में दैविकता निहित होती है; शिक्षा द्वारा इस दैवीय तत्त्व को पहचानना, विकसित करना एवं सम्पूर्णता तक पहुँचाया जाना संभव है। वे सत्य शिक्षा हेतु मानव, राष्ट्र तथा सार्वभौमिक मानवता को महत्त्व देते थे।

सत्य एवं समग्र शिक्षा सदैव बालक के स्वधर्म एवं स्वभाव के अनुरूप प्रदान की जानी चाहिये। सर्वांगीण विकास ही समग्र शिक्षा का लक्ष्य है; एवं यह सर्वांगीण विकास- व्यक्ति के शारीरिक प्राणिक, मानसिक, मनोगामिक तथा आध्यात्मिक पक्षों के सामंजस्यपूर्ण विकास द्वारा संभव है। समग्र शिक्षा प्रदान करने हेतु शिक्षक के पास एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण साधन है : मानस या अंतःकरण। अंतःकरण क्रमशः चार पटलों चित्त, मानस, बुद्धि तथा ज्ञान से मिलकर बना है। शिक्षक को बालक के उपर्युक्त

सभी पटलों के बारे में ज्ञान होना चाहिये।

प्रथम पटल चित्त है जो व्यक्ति के उपयुक्त तथा अनुपयुक्त अनुभवों, स्मृतियों तथा संस्कारों का भंडार-गृह है। यह निष्क्रिय स्मृति है तथा अन्य पटलों का आधार है। इसे प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं है। द्वितीय पटल मानस ज्ञानेन्द्रियों द्वारा दृश्य, ध्वनि, स्पर्श, रस, गंध आदि प्रत्ययों को ग्रहण कर विचारों में परिणित करता है। उपर्युक्त छः इंद्रियों को उचित प्रशिक्षण द्वारा सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए तैयार किया जा सकता है। श्री अरविन्द उपयुक्त इंद्रिय प्रशिक्षण द्वारा ज्ञानप्राप्ति पर बल देते हुए कहते हैं कि इंद्रियों की संवेदनशीलता एवं सही उपयोग नाड़ियों की शुद्धता पर निर्भर है। स्नायु संस्थान की शुद्धता एवं स्वास्थ्य पर ही नाड़ियों द्वारा जानकारीयों का उचित प्रवाह संभव है। अतः योग द्वारा नाड़ी शुद्धि का कार्य किया जाना चाहिए। दृश्य, ध्वनि, स्पर्श, रस, गंध आदि से संबंधित पाँचों इंद्रियों का विकास नाड़ी शुद्धि से संभव है किन्तु छठी इंद्रिय जिसे भारतीय मनोविज्ञान ने मानस नाम दिया है, का विकास सूक्ष्मदृष्टि नामक यौगिक क्रिया से हो सकता है। श्री अरविन्द मानते हैं कि इंद्रियों के कम या अनुचित प्रयोग के कारण ही वे प्रभावी ढंग से कार्य निष्पादन नहीं कर पाती हैं, एवं इस हेतु विद्यार्थियों को तामसिक आहार, आचार-विचार से बचते हुए सात्विक रूप से अनुशासित जीवन जीना चाहिये। इंद्रियों के सफल व प्रभावी उपयोग हेतु उन्हें संबंधित नियमित अभ्यास दिया जाना अत्यंत आवश्यक है।

अंतःकरण के तृतीय स्तर को बुद्धि कहते हैं जो मानस द्वारा प्राप्त ज्ञान को व्यवस्थित करने का कार्य करती है। बुद्धि कल्पना, स्मृति, विश्लेषण, संश्लेषण, आलोचना, निर्णय, सोचने-विचारने, तर्क करने आदि संबंधी कार्य करती है, इसे प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। बुद्धि के उक्त कार्यों का

आधार ध्यान है। ध्यान ही स्मृति का आधार है। श्री अरविन्द के अनुसार बुद्धि का विकास उत्तरोत्तर दिशा में हो सकता है। अंतःकरण का चतुर्थ पटल अन्तर्दृष्टि या ज्ञान का प्रत्यक्षीकरण है। यह पटल विकास की प्रक्रिया में है तथा बहुत कम मनुष्यों में पूर्णतः विकसित होता है। मनुष्य की पक्षपातपूर्ण सोच, कुतर्क तथा मिथ्या चिंतन इस महत्त्वपूर्ण स्तर को विकृत करने व अविकसित रहने देने के लिए जिम्मेदार हैं। इस स्तर पर ध्यान दिया जाना अत्यंत आवश्यक है।

वैदिक सन्त श्री अरविन्द द्वारा समग्र व्यक्तित्व विकास हेतु बतलाये गये उपर्युक्त सभी आधारों का शैक्षिक जगत में महत्त्व चिरपरिचित है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में श्री अरविन्द के विचारों को स्थान देकर शिक्षा को अधिकाधिक प्रभावी बनाने में महत्त्वपूर्ण मदद मिल सकती है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली व्यावसायिक रूप से कुशल डॉक्टर, इंजीनियर, शिक्षक आदि को सफलतापूर्वक उत्पन्न कर रही है, लेकिन इस भौतिकतावादी दौड़ में मानवीय संवेदनाएँ, नैतिकता एवं आध्यात्मिकता कहीं अपना अर्थ और पहचान खोती जा रही हैं। आवश्यकता है, महान शिक्षाविद एवं संत श्री अरविन्द के 'समग्र शिक्षा' संबंधी विचारों को अपनाने एवं कार्यरूप में परिणित करने की। अस्तु। ●

नये युग में वे ही व्यक्ति मानवता के भविष्य में सबसे अधिक सहायक होंगे, जो एक आध्यात्मिक विकास को नियति और इसलिए मनुष्य की महान आवश्यकता मानेंगे।

श्री अरविन्द

भारतीय संस्कृति और शिक्षा

डॉ० सुषमा जोशी

संस्कृति एक जटिल व व्यापक विचार है। संस्कृति के अनुसार ही व्यक्ति की जीवन शैली का विकास होता है। 'संस्कृति' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कार शब्द से हुई है जो 'कृ' धातु में सम उपसर्ग तथा क्तिन् प्रत्यय लगाने से बना है, जिसका मूल अर्थ है परिष्कृत करना अथवा संवारना। जिन संस्कारों द्वारा मनुष्य संस्कृत (cultured) बनता है, उन्हें संस्कृति नाम से सम्बोधित किया जा सकता है अर्थात् संस्कृति का आशय है, वह आदर्श, मूल्य मान्यताएं जो मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को परिष्कृत कर उसे समाज का सभ्य व शिष्ट नागरिक बनाती हैं।

संस्कृति संचरणशील है तथा हमारी सामाजिक धरोहर है। इसका प्रवाह निरन्तर चलता है, दूसरे शब्दों में यह एक अर्जित व्यवहार है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित होता रहता है। यह हस्तान्तरण ज्ञान तथा अनुकरण के माध्यम से होता है, अतः भारतीयों द्वारा समग्र रूप से अर्जित किया गया ज्ञान, मूल्य, आदर्श परम्परा ही भारतीय संस्कृति का आधार है।

प्राचीनता की दृष्टि से हमारी भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों की सिरमौर है। यद्यपि समय-समय पर अन्य संस्कृतियों के आगमन से इसके कलेवर में भी थोड़ा परिवर्तन देखने में आया किन्तु अन्य देशों की संस्कृति की तुलना में भारतीय संस्कृति की कुछ परम्पराएँ, मूल्य, आदर्श, सांस्कृतिक विरासत के धरोहर स्वरूप आज भी देखे जा सकते हैं। भारत की संस्कृति व परम्पराओं का मुख्य आधार वैदिक संस्कृति मानी जाती है। हमारी संस्कृति प्रारम्भ से ही धर्म प्रधान व अध्यात्म प्रधान

रही, अपनी जिस विशेषताओं के कारण यह आज भी जीवित है, वह उसमें व्याप्त आध्यात्मिकता। भारत में सदा से ही 'धर्म' को ऊँचा स्थान प्राप्त रहा है। भारतीय संस्कृति में धर्म का अभिप्राय है, 'धारण करने योग्य' जो उपासना, पूजा-पाठ आदि पद्धति से भिन्न है। हमारे धर्म ग्रंथों में भी 'धर्म' को 'कर्तव्य' बताया गया अर्थात् जिस मार्ग का अनुसरण कर व्यक्ति कर्तव्य की ओर अग्रसित हो, वही धर्म है, धर्म की इस व्यवस्था ने आध्यात्मिकता को बढ़ावा दिया।

आध्यात्मिकता की उपलब्धि कराना, प्रारम्भ से ही भारतीय शिक्षा का उद्देश्य समझा गया। 'आश्रम चतुष्टय' को आध्यात्मिकता की उपलब्धि में सहायक माना गया था। ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययन, गृहस्थ आश्रम के कर्तव्य पालन, वानप्रस्थ में ऋषि मुनियों का सत्संग तथा संन्यास आश्रम में मोक्ष की प्राप्ति या आत्मानुभूति को रखा गया था। वेदों को सर्वांगीण जीवन का ज्ञानकोष मानते हुए उनके अध्ययन-अध्यापन का लक्ष्य आध्यात्मिकता की उपलब्धि कराना माना जाता था।

आज यद्यपि भौतिकतावादी युग में अध्यात्म का महत्त्व कुछ कम हो गया है, किन्तु प्राचीन भारतीय शिक्षा इसी तथ्य को उजागर करती है कि भौतिक प्रगति मात्र साधन है, साध्य नहीं। साध्य जीवन की वास्तविकता को पहचानना है, इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) को जीवन का आधार स्वीकार किया गया। काम पुरुषार्थ के लिये अर्थ पुरुषार्थ को पूरक तथा मोक्ष पुरुषार्थ के लिए धर्म पुरुषार्थ को पूरक के रूप में रखा गया और इस पुरुषार्थ चतुष्टय की

शृंखला में चरम सत्य (Ultimate reality) मोक्ष को माना गया।

हमारे प्राचीन चिन्तकों एवं विचारकों ने मोक्ष की अपने-अपने ढंग से व्याख्या की। महर्षि पतंजलि ने इसके लिये 'अष्टांगयोग' (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) को प्रमुखता दी। आगे चलकर आध्यात्मवाद द्वारा ही कर्मयोग, ज्ञानयोग व भक्तियोग का विकास हुआ जिसने निष्काम कर्म (Selfless action) की प्रेरणा को जन्म दिया।

हमारी भारतीय संस्कृति की एक अन्य विशिष्टता जो इसे अन्य संस्कृतियों की तुलना में अनूठा साबित करती है, वह है इसमें व्याप्त सहिष्णुता व उदारता का भाव। भारतीय संस्कृति में सभी को स्वयं में समाहित करने की क्षमता विद्यमान है क्योंकि सहिष्णुता इसके मूल में है। विपरीत संस्कृति के प्रति भारतीय संस्कृति ने कभी भी वैमनस्य की भावना नहीं रखी, सदैव से ही भारतीय संस्कृति विपरीत विचारों के सह-अस्तित्व में विश्वास रखती रही है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रत्येक युग में सहिष्णुता एवं उदारता भारतीय संस्कृति की आधारशिला रही। यही कारण है कि जहाँ विदेशों में धार्मिक असहिष्णुता के कारण अन्य धर्मावलम्बियों पर अत्याचार किये जाते हैं, वहीं भारत में सताये हुए धर्मावलम्बी शरण पाते हैं। इसीलिये भारतीय संस्कृति में अनेकता में एकता के दर्शन होते हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। हमारी संस्कृति का सदैव उद्घोष रहा है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत्॥

डॉ० आनन्द कुमार स्वामी ने अपनी पुस्तक 'हमारी परम्परा' में लिखा है— "भारत की संस्कृति इसलिए अजर अमर है कि उसमें प्रत्येक भिन्नता को आत्मसात करने की अद्वितीय क्षमता है। शत सहस्र

विभिन्नताएं यहाँ एक अविनाशनी अभिन्नता में ढलकर भारतीय दिनचर्या का मूल आधार बन जाती हैं।"

भारतीय संस्कृति में ग्रहणशीलता (Adoptability) के गुण को भी एक प्रमुख विशिष्टता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। ग्रहणशीलता की पृष्ठभूमि में सहिष्णुता का ही भाव छिपा है। सहिष्णुता के भाव से ओतप्रोत होने के कारण अन्य संस्कृतियाँ भारतीय संस्कृति में समाहित हो उसी में एकाकार हो गयीं। इसकी प्रत्यक्ष झलक हमें भारत के दर्शन, कला, साहित्य में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। भारत के महान दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन का विचार था कि भारतीय संस्कृति सदाबहार की प्रकृति है। इस सम्बन्ध में उन्होंने टिप्पणी करते हुए कहा कि— "भारतीय संस्कृति में जितने अधिक परिवर्तन होते हैं यह उतनी ही अपरिवर्तित रहती है। भारतीय भावना की शक्ति ने कठिन समयों में हमारे अस्तित्व को बनाये रखा है। यह एक राष्ट्र को उसका स्वरूप और महत्त्व देने वाले अमूर्त बलों में से एक है"।

भारतीय संस्कृति का समन्वयकारी रूप भी दृष्टव्य है। हमारी संस्कृति सदैव से ही गुणग्राही एवं समन्वयकारिणी रही, इसीलिए अनेकों संस्कृतियों के आने के पश्चात भी सदा अजेय रही। अपनी जड़ों को आध्यात्मिकता के दृढ़ सिद्धान्तों पर टिका कर यह अविचल, अविनाशी बनी रही। यद्यपि पश्चिमी संस्कृति के पदार्पण से हमारी संस्कृति में कुछ परिवर्तन दृष्टिगत हुआ, भारत में पुनर्जागरण का काल आया, जातिगत भेदभाव दूर हुए, रूढ़िवादिता के बंधन ढीले हुए, किन्तु यह भी सत्य है कि संस्कृति ने उन्हीं तथ्यों को अपने में समेटा व आत्मसात किया जिसे भविष्य के लिए सर्वजनहिताय व सर्वजन सुखाय समझा।

भारतीय संस्कृति के संरक्षण, संवर्धन में न केवल धर्मोपदेशकों व दार्शनिकों का ही योगदान

रहा वरन् शिक्षा प्रारम्भ से ही इसके संवर्धन में वाहक रही। यूँ भी देखा जाये तो शिक्षा व संस्कृति आपस में घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। संस्कृति के अनुरूप ही शिक्षा की रूपरेखा बनायी जाती है। भारतीय संस्कृति में शिक्षा को पवित्रतम् कृत्य के रूप में माना गया। हमारे समस्त धर्मग्रन्थों में इसकी पुष्टि मिलती है। भारतीय संस्कृति में चूँकि अध्यात्मवाद की प्रमुखता है, इसीलिये यहाँ की शिक्षा में शाश्वत् मूल्यों की प्राप्ति पर बल दिया जाता रहा है। 'ज्ञान' को मुक्ति के साधन के रूप में स्वीकार किया गया तथा शिक्षा का एकमात्र लक्ष्य 'सा विद्या या विमुक्तये' माना गया, इसी विद्या ज्ञान में समस्त गुणों को संयुक्त बताया गया—

*विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥*

हमारी संस्कृति में संचय करने की प्रवृत्ति की प्रारम्भ से ही आलोचना की गई, वह संचय चाहे फिर ज्ञान का हो अथवा धन का। विद्याधन को अनोखा धन बताते हुए कहा गया कि यह एक ऐसा धन है जो व्यय करने पर बढ़ता है और संचय करने पर नष्ट होता है—

*अपूर्वःकोऽपि कोषोऽयं विद्यते तव भारति।
व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति संचयात्॥*

प्रारम्भ से ही हमारे मनीषियों की यह धारणा रही कि ज्ञान का अधिकतम प्रसार किया जाये। संग्रह की प्रवृत्ति संकीर्णता को जन्म देती है और यही संकीर्णता आगे चलकर दुर्गुणों में परिवर्तित हो जाती है। भारतीय संस्कृति ने त्याग को हमेशा सराहा, त्याग में जो संतुष्टि है वह अन्यत्र नहीं।

प्राचीन भारतीय शिक्षा का लक्ष्य प्रारम्भ से ही समष्टि रूप में स्वस्थ समाज का विकास करना माना गया। इसी लक्ष्य की सार्थकता हेतु षड्वेदांगों (शिक्षा, ज्योतिष, छन्द, कल्प, निरुक्त, व्याकरण) से युक्त पाठ्यक्रम की व्यवस्था की गई। इन्हीं षड्वेदांगों

से आगे चलकर अनेक विषय प्रकाश में आये जैसे 'कल्प' से कानून की शिक्षा विषय रूप में पाठ्यक्रम में समाविष्ट देखी गई।

पाठ्यक्रम के अध्ययन—अध्यापन हेतु विभिन्न विधियाँ जैसे चिन्तन, मनन, स्वाध्याय, ध्यान, व्याख्यान, वाद—विवाद, विचार विमर्श को मुख्य आधार माना गया। इन विधियों को आज की शिक्षा व्यवस्था ने भी महत्त्वपूर्ण मानते हुए स्वीकार किया है। प्राचीन काल की शिक्षा में बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास के साथ—साथ मानवीय गुणों को विकसित करना भी गुरु का महत्त्वपूर्ण दायित्व था, जिसे आज भी हम शिक्षकों के प्रमुख उत्तरदायित्वों में शामिल करते हैं। 'पाप' और 'पुण्य' की कल्पना भी सम्भवतः सद्कर्म और बुरे कर्मों के आधार पर की गई तथा सद्कर्मों को ही मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बताया गया।

दुर्भाग्यवश आज हमारी संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क में आने के कारण अपनी उन विशिष्टताओं से विमुख होती जा रही है, जिनके कारण उसे विश्व की श्रेष्ठ प्राचीनतम् संस्कृति कहलाने का गौरव प्राप्त था। सम्भवतः आज जिन समस्याओं का सामना भारतवर्ष को करना पड़ रहा है, उनका समाधान भी तभी हो सकेगा जबकि हम अपनी संस्कृति को पुनर्जीवित कर उसका प्रसार करें। भारतीय संस्कृति की विशिष्टताओं का प्रसार शिक्षा द्वारा ही संभव है। एक ओर जहाँ संस्कृति शिक्षा के स्वरूप और प्रक्रिया को प्रभावित करती है, वहीं दूसरी ओर शिक्षा भी अपने विविध कार्यों द्वारा संस्कृति का संरक्षण, संवर्धन व हस्तान्तरण करती है। इसी उद्देश्य से शिक्षा के भारतीयकरण की आवश्यकता को आज की मूल आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी सम्बन्ध में योगिराज अरविन्द का भी कहना था कि— “आधुनिक भारतीय शिक्षा न तो आधुनिक है, न भारतीय और न शिक्षा ही” अर्थात् आज हम जिस शिक्षा प्रणाली को देख

रहे हैं वह सामासिक (कम्पोजिट) है, अनेक संस्कृतियों के सम्मिश्रण से प्राप्त शिक्षा प्रणाली है। भारत के अन्य अनेक शिक्षाविदों ने भी भारतीय शिक्षा को उसके मूल स्वरूप से परिचित कराने के अथक प्रयास किये एवं शिक्षा के भारतीयकरण पर जोर दिया। भारतीयकरण का अभिप्राय है समस्त जनजीवन में भारत राष्ट्र के प्रति राष्ट्रीय भावना पैदा करना। यह राष्ट्रीय भावना तभी बलवती हो सकेगी, जबकि समस्त सांस्कृतिक परम्पराओं व धरोहरों पर गर्व का अनुभव करते हुए, अपनी जीवन शैली में उसे उतारा जाये।

भारतीय संस्कृति निसन्देह उच्चकोटि की है। अपनी संस्कृति से अनुप्राणित होना, इस पर गर्व करना तथा इसका परिरक्षण करना, देश के प्रति निष्ठा का भाव दर्शाता है, किन्तु इसका यह आशय भी नहीं कि आधुनिकतम ज्ञान—विज्ञान को नकारा जाये। आज के इस भौतिकतावादी युग में जहाँ एक ओर प्राचीन संस्कृति को अपना अनिवार्य जान पड़ता है, वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य ज्ञान—विज्ञान को भी समग्र ज्ञान का पूरक मानते हुए जानना आवश्यक हो जाता है। संस्कृति की परिरक्षा के लिये उसके विकास की गति की ओर ले जाना समूची मानवता के लिए हितकर है। अपनी संस्कृति पर ही बल देने से एकता विच्छिन्न होती है। अतएव शिक्षा के माध्यम से जीवन को समग्र रूप में ग्रहण करने वाली एक ऐसी व्यापक दृष्टि को विकसित करने की आवश्यकता है जो गतिशील हो, जिसमें समय की आवश्यकताओं के अनुरूप अपने को ढालने की क्षमता हो, समन्वय की भावना हो।

आज राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय शिक्षा की जितनी भी योजनाएं बनायी गयीं, उनमें डी.ए.वी. कॉलेज, शान्तिनिकेतन, अरविन्द आश्रम, बेसिक शिक्षा केन्द्र, वनस्थली इसी विचारधारा को मानने वाले हैं। इन संस्थाओं में भरसक यह प्रयास

किया जा रहा है कि भारतीय संस्कृति व मूल्यों की सुरक्षा बनी रहे। आज की मूल आवश्यकता यह है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली को उखाड़ कर न फेंका जाये वरन् उसमें आवश्यक संशोधन कर उसे भारतीय आदर्शों के अनुरूप बनाया जाये, जिससे उन्हीं आदर्शों के धरातल पर वर्तमान युग की शिक्षा का शिलान्यास किया जा सके। ●

महामना का सिद्धान्त और आदर्श—
“वसुधैव—कुटुम्बकम्” के भावों से भरा हुआ था। उनका विश्वास था कि परोपकार में ही भगवान् की सरल और सच्ची आराधना है। मानव जीवन की सेवा करना वे अपना धर्म और भगवान् की आराधना समझते थे। महामना एक विश्वात्मा थे। न उनका कोई विशिष्ट परिवार था और न कोई देश, जीव मात्र उनके कुटुम्बी थे, समूचा विश्व उनका देश था। वे सर्वदा दूसरों की आत्मा में परमात्मा को देखते थे। हमारे हृदय में ईश्वर का निवास है, हमारी अन्तरात्मा स्वयं ईश्वरस्वरूप है। हमारे मनोविकार नष्ट हो जायें तथा श्रद्धा, दया, प्रेम, शान्ति एवं सेवा का भाव उत्पन्न हो जाय तो समझना चाहिए कि ईश्वर की अनुकम्पा हमारे ऊपर है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति परम ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। अन्तिम समय महामना ने कहा था, अभी एक और जन्म देश एवं विश्वविद्यालय के लिए लेना चाहता हूँ। निश्चय ही महामना जनता के सच्चे हितैषी थे। वे बड़े ही कर्मठ व्यक्ति थे।

महामना के प्रेरक प्रसंग ‘खण्ड’— 3

(पेज सं० 409 से)

जीवन के प्रति सकारात्मक सोच एवं उत्साह

प्रो० चन्द्रकला पाडिया

जीवन में सकारात्मक सोच एवं उत्साह जीवन की वे संजीवनी बूटियाँ हैं, जो पतझड़ में बसन्त का काम करती हैं, अंधेरों में चिराग का काम करती हैं। किसी ने ठीक ही कहा है :

“नजरें तेरी बदलीं नज़ारे बदल गये,
किशती ने बदला रुख तो किनारे बदल गये।”

जीवन की प्रत्येक परिस्थिति को देखने की एक दृष्टि होती है, यह दृष्टि नकारात्मक और सकारात्मक दोनों हो सकती है। एक सी ही परिस्थितियों में कोई व्यक्ति अपनी सकारात्मक दृष्टि के कारण बहुत सुखी हो सकता है, वहीं दूसरा व्यक्ति अपनी नकारात्मक दृष्टि के कारण बहुत दुखी हो सकता है। सकारात्मक दृष्टि वाला प्राणी वह है, जो अपने जीवन के सकारात्मक पहलुओं को देखने की दृष्टि रखता है और व्यर्थ ही दूसरों से तुलना करने में अपना समय नहीं गँवाता है। प्रसिद्ध दार्शनिक William James का कहना है: *The greatest discovery of my generation is that human beings can alter their lives by altering their attitudes of mind.*

सकारात्मक सोच वह है जो व्यक्ति को सही दिशा में ले जाती है। ऐसा व्यक्ति ईश्वर के प्रति हमेशा उन चीजों के लिए कृतज्ञ रहता है जो ईश्वर ने उसे दीं। यह वह व्यक्ति होता है जो संसार की छोटी से छोटी चीजों से आनन्द ग्रहण करता है, जैसे पक्षियों का कलरव, वर्षा की बूँदें, कोयल की कू-कू, गिलहरी का दौड़ना आदि-आदि। ऐसा व्यक्ति यह भली-भाँति जानता है कि कठिनाइयों का जीवन में एक अभूतपूर्ण महत्त्व है, ये कठिनाइयाँ मनुष्य

के जीवन और व्यक्तित्व के निर्माण के लिए आती हैं।

आइये सोचें की इस सकारात्मक सोच को पाने के क्या-क्या तरीके हैं :

(1) अपने आप से प्यार करना सीखें, अपनी क्षमताओं और अपने गुणों को पहचानें। यह विश्वास करके चलें की प्रत्येक व्यक्ति में कुछ अन्तर्निहित गुण होते हैं, ईश्वर किसी को भी पूरी तरह से गुण विहीन और क्षमताविहीन नहीं बनाता है।

(2) अपने प्रति आने वाले दयनीय विचारों को पूरी तरह त्याग दें। यह सोचने की बजाय कि हमारे पास क्या नहीं है, यह सोचना आरम्भ करें कि हमारे पास क्या-क्या है, अपने व्यक्तित्व और क्षमताओं की एक सूची बना लें।

(3) हमेशा अपने ही बारे में सोचना छोड़ दें। हर रोज यह भी सोचें कि हम दूसरों के लिए भी क्या कर सकते हैं। जब हम दूसरे के लिए कुछ करना शुरू कर देते हैं तो हमारे भीतर एक ऐसा अद्भुत स्पंदन होता है जो हमारे अपने ही जीवन को सुरक्षित कर देता है। प्रसिद्ध कवि Emily Dickinson ने ठीक ही कहा है :

If I can stop one heart from breaking
I shall not live in vain;
If I can ease one life the aching.
Or cool one pain.
Or help one fainting robin
Unto his nest again,
I shall not live in vain.
I shall be glad

If I can put new hope within the heart
 Of one who has lost hope.
 If I can help a brother up
 Some difficult long slope
 That seems too steep for tired feet to go.
 If I can help him climb.
 Into the light upon the hill's far crest,
 I shall begrudge no time
 Or strength that I can spend, for well I know
 How great may be his need.
 If I can help through any darkened hour,
 I shall be glad indeed.
 For I recall how often I have been
 Distressed, distraught, dismayed.
 And hands have reached to help, and voices
 called
 That kept me unafraid.
 If I can share this help that I have had
 God knows I shall be glad.

- Grace Noll Crowell

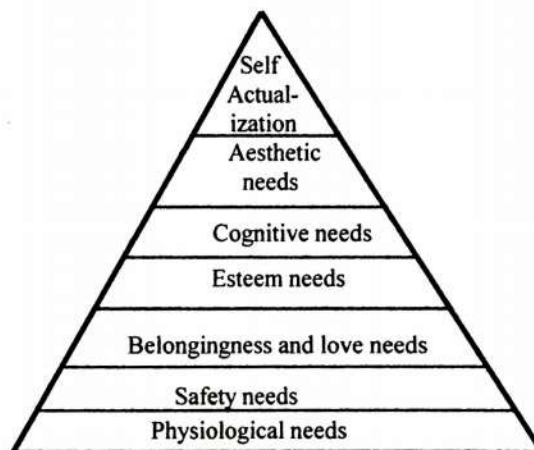
(4) सकारात्मक सोच के लिए यह अत्यधिक आवश्यक है कि हम आस-पास के व्यक्तियों के गुणों को पहचानें और उसकी प्रशंसा करना सीखें। सच्ची पहचान एवं सच्ची प्रशंसा किसी भी व्यक्ति के जीवन को बदल सकती है, जो व्यक्ति दूसरों के गुणों को पहचानता है, उसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करता है वह व्यक्ति अपने आस-पास एक बड़े ही सुन्दर वातावरण का सृजन करता है, जिसमें दूसरों से ज्यादा वह स्वयं आनन्द का अवगाहन करता है। दूसरों की प्रशंसा करने से वह स्वयं उस स्नेह को प्राप्त करता है जो स्नेह उसे अन्यथा कभी प्राप्त नहीं हो पाता।

(5) जीवन में आवश्यक और अनावश्यक में भेद करना सीखें। गांधी जी का कहना था कि जिस

दिन व्यक्ति आवश्यक और अनावश्यक में भेद करना सीख जायेगा। उस दिन उसके जीवन की आधी से अधिक समस्याएं समाप्त हो जाएंगी। हमने अपने मस्तिष्क को एक कूड़ा घर बना रखा है, जिसमें बहुत से अनर्गल विचार सड़ते रहते हैं, और मस्तिष्क में अपनी दुर्गन्ध फैलाते रहते हैं। हम अपने मस्तिष्क से इस कूड़े को निकाल दें ताकि वहाँ पर एक शुद्ध हवा का संचार हो सके।

(6) मनुष्य अपनी वास्तविक प्रकृति को पहचाने, उपनिषदों में मनुष्य की आन्तरिक संरचना को कई कोशों में विभाजित किया गया है : (क) अन्नमय कोश (ख) प्राणमय कोश (ग) मनोमय कोश (घ) विज्ञानमय कोश (ङ) आनन्दमय कोश

इसी प्रकार अमेरिकन चिंतक अब्राहम एच. मास्लो ने अपनी पुस्तक "Motivation and Personality" में मनुष्य की आवश्यकताओं को एक बड़ा सुन्दर नक्शा खींचा है :



इस नक्शे में भी उपनिषदों की तरह ही शारीरिक आवश्यकताओं को सबसे निम्नतम स्तर पर रखा गया है। उसके ऊपर मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को रखा गया है, इन मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को तीन स्तरों पर बाँट दिया गया

है। पहले स्तर पर स्नेह, सुरक्षा एवं अपनेपन को पाने की आवश्यकता। दूसरे स्तर पर अपने लिए सम्मान प्राप्त करने की आवश्यकता, इसके लिए व्यक्ति ज्ञान, निपुणता और तरह-तरह की क्षमताओं को अर्जित करना चाहता है। तीसरे स्तर पर मनुष्य ज्ञान को अर्जित करना चाहता है, कला, संगीत, कविता, साहित्य आदि का आनन्द लेना चाहता है। सबसे अन्तिम एवं उच्च स्तर है—Self actualization, जिसका अर्थ होता है आन्तरिक विकास। हर व्यक्ति में एक आन्तरिक चेतना होती है और जो इस चेतना और विकास का निर्माण कर पाता है वही व्यक्ति अपनी इस आवश्यकता को समझ पाता है। ऐसे व्यक्तियों को संपूर्ण मानवजाति के लिए प्रेम होता है। ऐसे व्यक्ति के लिए मनु ने ठीक ही कहा है :

अयम् निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।

उदारचरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

बुद्ध भगवान ने हमें जीवन में अपनाने के लिए चार गुण बताये “मैत्रिय, करुणा, मुदिता और उपेक्षा”। जीवन में इस सकारात्मक सोच को पल्लवित और पुरस्कृत करने के लिए सकारात्मक उत्साह की जरूरत है, बिना उत्साह के जीवन बहुत निराश हो जाता है। Bruce Barton ने कहा है :

“If you can give your son or daughter only on gift, let it be enthusiasm.”

उत्साह जीवन का एक बहुत महत्वपूर्ण गुण है, परन्तु इसे जीवन का सबसे प्रभावी तत्व बनाने के लिए इसका निरन्तर अभ्यास करना पड़ता है। Thomas Huxley, “The Secret of genius is to carry the spirit of child into old age.”

एक उत्साही व्यक्ति प्रकृति की छोटी से छोटी सुन्दरता से भी झूम उठता है। प्रश्न उठता है कौन व्यक्ति हमेशा उत्साही रह सकता है :

(1) वह व्यक्ति हमेशा उत्साही रहता है जो किसी भी संकट को लाभ में बदल देता है। “Turns the

crisis to advantage” H.W. Arnold का कहना है कि सबसे दिवालिया वह व्यक्ति है जिसने उत्साह खो दिया है, वह व्यक्ति जो सब कुछ खो देता है परन्तु उत्साह नहीं खोता वह एक दिन पुनः सब कुछ प्राप्त कर लेता है।

(2) वह व्यक्ति जो जीत की शक्ति में विश्वास करता है, वह हमेशा उत्साही बना रहता है। Harold Blakel Walker का कहना है— “Joy comes not from the absence of difficulty, but from a conviction of power to triumph.”

(3) उत्साही व्यक्ति हमेशा Grace of Perseverance में विश्वास करता है। वह चिन्ता में नहीं, चिंतन में विश्वास करता है।

(4) उत्साह हमेशा तभी बना रह सकता है, जब मनुष्य निरन्तर दूसरों के लिए छोटी-छोटी भलाई करने में विश्वास करता है।

Ralph Waldos Emerson ने बहुत ही सुन्दर कहा है—

एक उत्साही व्यक्ति को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि “Happiness consists not in having but of being, not of possessing, but of enjoying.” ईश्वर में विश्वास भी व्यक्ति को उत्साही बनाने में बहुत मदद करता है, यदि उसे यह विश्वास हो कि परमात्मा का हाथ उसके ऊपर है और जो कि कभी उससे अलग नहीं हो सकता। जब जीवन का जहाज समुद्र में डूबने लगे, पतवारें टूट जायें, तब भी ईश्वर मेरा साथ नहीं छोड़ेगा। यह भाव व्यक्ति को बहुत अधिक मजबूती प्रदान करता है। एमर्सन ने क्या खूब कहा है— “Nothing great was ever achieved without enthusiasm.” उत्साही व्यक्ति हमेशा आशावादी होता है वह भूतकाल की गलतियों को भूल जाता है और भविष्य की तैयारी करता है। Rudyard Kipling की यह कविता इस भावना को प्रकट करती है :

If you can keep your head when all about you
Are losing theirs and blaming it on you;
If you can trust yourself when all men doubt you,
But make allowance for their doubting too,;
If you can wait and not be tired by waiting,
Or, being lied about, don't deal in lies,
Or, being hated don't give way to hating,
And yet don't look too good, nor talk too wise;

If you can dream—and not make dreams your
master,
If you can think—and not make thoughts your aim;
If you can meet with triumph and disaster
And treat those two impostors just the same;
If you can bear to hear the truth you've spoken
Twisted by knaves to make a trap for fools,
Or watch the things you gave your life to broken,
And stoop and build 'em up with wornout tools;

If you can make one heap of all your winnings
And risk it on one turn of pitch-and-toss,
And lose, and start again at your beginnings
And never breathe a word about your loss;
If you can force your heart and nerve and sinew
To serve you turn long after they are gone,
And so hold on when there is nothing in you
Except the Will which says to them: Hold on,

If you can talk with crowds and keep your virtue,
Or walk with kings—nor lose the common touch;
If neither foes nor loving friends can hurt you;
If all men count with you, but none too much;
If you can fill the unforgiving minute
With sixty second's worth of distance run—
Yours is the Earth and everything that's in it,
And—which is more—you'll be a Man, my son!

महामना का विद्यार्थियों पर अनन्त स्नेह था। वे स्वभाव से ही बड़े दयालु थे। हृदय से बड़े कोमल थे। किसी को कष्ट में देखकर द्रवित हो जाते थे। आत्मीय जनों से इन्कार पा जाने पर नौकरों से रुपया माँगकर विद्यार्थियों की सहायता करना महामना जैसे महापुरुष का ही काम था। वे उन क्रांतिकारी विद्यार्थियों की भी सहायता किया करते थे, जिनसे वे सहमत नहीं रहते थे। महामना अपने विद्यार्थियों से यही कहा करते थे कि, “क्रोध और घृणा को प्रेम से जीतो, अगर तुमने प्रेम के बदले ही प्रेम किया तो क्या किया?”

वे विद्वानों और अध्यापकों का बड़ा सम्मान करते थे। विद्यार्थियों को वे हमेशा कहा करते थे कि अपने गुरु की आज्ञाओं का पालन अवश्य करो, क्योंकि वे गुरु हैं, जो कुछ भी वे कहेंगे तुम्हारी भलाई के लिए ही कहेंगे। यही कारण है, जब कोई विद्यार्थी उनके पास अपने अध्यापक की शिकायत लेकर जाता तो बड़े प्रेम से सुनते और अध्यापक को बुलवाते थे। विद्यार्थी प्रसन्न हो जाता था कि आज तो गुरु जी को डाँट पड़ेगी, पर होता उल्टा था, अध्यापक के आने पर विद्यार्थी को क्षमा माँगनी पड़ती थी।

वे आचार—धर्म के साथ—साथ विचार के पक्के और स्पष्ट वक्ता थे। जो ठीक और सही समझते थे, उसे करने या कहने में नहीं चूकते थे। महात्मा गाँधी को वे बहुत ही श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। कुछ विषयों को लेकर मतभेद हो जाने के कारण उन्हें खरी-खोटी सुनाने में भी नहीं चूकते थे। यही कारण है कि बापू की महामना के प्रति अगाध श्रद्धा और अटूट भक्ति थी। महात्मा जी स्वयं कहते थे कि मैं तो मालवीय जी महाराज का पुजारी हूँ।

महामना के प्रेरक प्रसंग 'खण्ड' 3

(पेज सं0 410 से)

शिक्षा तथा मानवीय मूल्य

डॉ० प्रेम नारायण सिंह

मानव प्रकृति की सर्वोत्तम कृति है। नीतेश का यह कथन उल्लेखनीय है कि मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो हमेशा अपने आप में शर्मिन्दा होता है। वह मौलिक रूप से आदर्शवादी है और सदा आदर्श को प्राप्त करने का प्रयास करता रहता है। वह जितना अपने आस-पास की वस्तुओं से असन्तुष्ट रहता है, उतना ही अपने आप से भी; और हमेशा इन दोनों की संवृद्धि में संलग्न रहता है। वही (मनुष्य) केवल ऐसा प्राणी है जिसमें तर्क है, कारण और परिणाम का सम्बन्धीकरण है। उसमें ही केवल यह योग्यता है कि वह अपने आपकी आलोचना कर सकता है। यही कारण है कि मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है।

आज मानव जहां भौतिक/तकनीकी विकास के नित नये प्रतिमान स्थापित करता हुआ निरंतर प्रगति पथ पर अग्रसर है, वहीं दूसरी तरफ व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों ही स्तरों पर वह असंतोष, घुटन का अनुभव भी कर रहा है। व्यक्ति दिन प्रतिदिन तनावग्रस्त होता जा रहा है। समाज भी इसके दुष्प्रभाव से अछुता नहीं है। अतिशय भौतिकवादिता ने हमारे जीवन दर्शन की दिशा ही परिवर्तित कर दी है। मानवीय मूल्यों का निरंतर अवमूल्यन जारी है। अब प्रश्न उठता है— कि मानवीय मूल्यों का ह्रास किस प्रकार रोका जाय तथा सर्वश्रेष्ठ प्राणी (मनुष्य) की श्रेष्ठता कैसे न सिर्फ कायम रखी जाय वरन् उसे किस प्रकार उत्तरोत्तर श्रेष्ठतम् बनाया जाय। इसका सर्वाधिक सशक्त साधन है— “शिक्षा”।

शिक्षा— शिक्षा स्वयं अपने आप में एक मूल्यपरक अवधारणा है। व्यापक अर्थों में शिक्षा आजीवन चलने वाली एक ऐसी प्रक्रिया है, जो व्यक्ति को

उसके नैसर्गिक शक्तियों के विकास में सहायता पहुँचाती है तथा उसे अपने वातावरण के साथ समायोजन स्थापित करने की योग्यता प्रदान करती है। दूसरे शब्दों में शिक्षा वातावरण से समायोजन स्थापित करने वाली प्रक्रिया है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार — “शिक्षा वही है जिससे चरित्र का निर्माण होता है, मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है, बुद्धि का विकास होता है और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा होता है। इस अर्थ में लिखने पढ़ने का ज्ञान देने के साथ ही शिक्षा व्यक्ति के आचरण विचार और दृष्टिकोण में ऐसा परिवर्तन करती है जो समाज, राष्ट्र तथा सम्पूर्ण मानवता के लिए लाभदायक होती है।” आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार — “शिक्षा का सीधा अर्थ सुसंस्कारिता का प्रशिक्षण है।” उल्लेखनीय है कि ‘सुसंस्कारिता’ का सम्बन्ध श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों/गुणों के विकास से है।

मानव मूल्य— मानव मूल्यों की चर्चा के पूर्व संक्षेप में यह उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि “मूल्य” क्या हैं? मूल्य मानव जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनका सम्बन्ध आस्था और विश्वास से होता है। यह एक आदर्श इच्छा है जिसे पूरा करने के लिए व्यक्ति जीता है एवं आजीवन प्रयासरत रहता है। संक्षेप में व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्तर पर ‘जीवन के निर्देशक तत्त्व मूल्य’ कहे जा सकते हैं।”

मानव जीवन को उसकी समग्रता में देखकर उसके सभी आयामों का परिष्कार करने वाले मूल्यों का चिंतन ‘जीवन मूल्य’ अथवा ‘मानव मूल्य’ शीर्षक के अन्तर्गत किया जा सकता है। मूल्य चिंतन की यह धारा हमारी व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के सभी सभी पक्षों तथा हमारी मानवीय चेतना के सभी स्तरों को स्पर्श करेगी। इस प्रकार मानवता के

विकास एवं मानव कल्याण से जुड़े मूल्य मानवीय मूल्यों की श्रेणी में आते हैं, जिनका दायरा अत्यन्त व्यापक है। अब प्रश्न उठता है कि इन मानवीय मूल्यों के विकास में शिक्षा की क्या भूमिका है अथवा हो सकती है।

शिक्षा तथा मूल्य अन्योन्याश्रित हैं। किसी भी समाज का निर्माण उस समाज के प्राचीन तथा नवीन मूल्यों के संश्लेषण द्वारा होता है। समाज के जीवन मूल्य प्राचीन मूल्यों पर आधारित होते हैं। शिक्षा के माध्यम से प्राचीन एवं नवीन मूल्यों में समन्वय स्थापित किया जाता है। आज निश्चित रूप से यह समन्वय उचित ढंग से नहीं हो पा रहा है। परिणामस्वरूप हमारे नैतिक/मानवीय मूल्य छिन्न-भिन्न होते जा रहे हैं।

शिक्षा तथा मानव-मूल्य— प्रो० थियोडोर ब्रेमेल्ट ने अपनी पुस्तक "Education as Power" में मत व्यक्त किया है कि— "शिक्षा की मान्यता चाहे मस्तिष्क की परिष्कृति हो अथवा चारित्रिक विकास, उसे आवश्यक रूप से मूल्यों को आगे बढ़ाने और सतत् रूप से मूल्यांकित करने की समस्याओं का समाधान ढूँढना होगा।" इस प्रकार शिक्षा प्रमुख रूप से समाज के सदस्यों को यह सिखाने से सम्बन्ध रखती है कि वे किस प्रकार सामाजिक/सांस्कृतिक मानदण्डों/मूल्यों के अनुरूप व्यवहार कर सकें। इस प्रक्रिया में मूल्यों/मानदण्डों का अग्रेषण तो होता ही है, साथ ही समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप इन मानदण्डों/मूल्यों को शिक्षा के माध्यम से परिष्कृत एवं परिमार्जित भी किया जाता है। यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है।

जब भी हम मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में शिक्षा की बात करते हैं तो इससे तात्पर्य उस शिक्षा से होता है जो व्यक्ति/बालक में नैतिक, मानवीय मूल्यों का विकास करे और इस प्रकार उसे समाज का एक उपयोगी सदस्य बनने में योगदान दे। यह कार्य

शिक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा उसके व्यवहारिक पक्ष पर विशेष रूप से निर्भर करता है। आज विडम्बना यह है कि शिक्षा के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों का आपसी संतुलन ही बिगड़ गया है।

आज हम शिक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष पर ही विशेष बल देते हुए ज्ञानार्जन को प्राथमिकता दे रहे हैं। शिक्षा का अर्थ अच्छी आदतों और सद्प्रवृत्तियों का विकास नहीं बल्कि डिग्री प्राप्ति और उसके माध्यम से नौकरी प्राप्त करना प्रमुख हो गया है। व्यक्तित्व के नैतिक, मानवीय, सामाजिक पक्ष, दूसरे शब्दों में सर्वांगीण विकास का पक्ष व्यावहारिक स्तर पर गौण हो गया है। सिद्धान्त और व्यवहार, कथनी और करनी में असंतुलन के परिणाम स्वरूप आज जब मानवीय मूल्यों का अवमूल्यन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगोचर होने लगा है तो मानव समाज इसकी पुनः प्रतिष्ठा, संरक्षण एवं विकास हेतु नये सिरे से सोचने को बाध्य हो रहा है। निःसन्देह यह आज समय की मांग भी है। अब प्रश्न यह है कि इसमें शिक्षा की क्या भूमिका है तथा उस भूमिका का किस प्रकार प्रभावी ढंग से निर्वहन होगा?

मनुष्य को "आदर्श मानव" के रूप में परिणित करना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य रहा है। आदर्श मानव की संकल्पना मूल्यों की संकल्पना से जुड़ी है। विश्व के समस्त शिक्षाविदों के चिन्तन का सार है— 'मानव मूल्यों से ओत-प्रोत जीवन पद्धति के लिए शिक्षा।' ऐसी शिक्षा जो मुख्यतः यह सिखाने से सम्बन्ध रखती है कि व्यक्ति किस तरह सुस्थापित मानदण्डों/मूल्यों के अनुरूप व्यवहार कर सके।

किसी भी व्यक्ति/समाज/राष्ट्र को तीन चीजें महान बनाती हैं। इनका सम्बन्ध भी मूल्यों से ही है—

1. अच्छाई की शक्ति में विश्वास।
2. ईर्ष्या और सन्देह की अनुपस्थिति।
3. उन लोगों की सहायता करना जो अच्छा करना व अच्छा बनना चाहते हैं।

व्यक्तिगत/सामाजिक स्तर पर हमारे व्यवहार का यह आधारभूत सिद्धान्त होना चाहिए। इसके साथ ही आवश्यक है— परिवार, विद्यालय समाज के लोगों का मूल्य आधारित व्यवहार। क्योंकि मूल्य पढ़ाये नहीं जाते। डॉ० एच.एस. बैस के शब्दों में— “मूल्यों की शिक्षा सिखा कर नहीं बल्कि उन मूल्यों को अनुभूत कराकर, मूल्यों को जी कर आस्था, विश्वास और मान्यता में बदला जा सकता है।” सच भी है, क्योंकि उपदेश की अपेक्षा आचरण (व्यवहार) का मार्ग ज्यादा प्रभावी होता है। बालक अनुकरण से सीखता है। स्वाभाविक

है कि अपने बड़ों को जो आचरण/व्यवहार बालक देखेगा उसी का अनुसरण करेगा। उसी के अनुरूप उसमें गुणों का विकास होगा। अतः यदि वास्तव में हम चाहते हैं कि आने वाला कल सुखद हो, भावी एवं वर्तमान पीढ़ी स्वस्थ रूप से विकसित, पुष्पित, पल्लवित हो तो उसकी पहली शर्त होगी हमारा अर्थात् माता-पिता, अध्यापक—अभिभावक का मूल्य आधारित/अनुकरणीय व्यवहार। दूसरी शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष को विशेष मजबूती प्रदान करनी होगी। सिद्धान्त एवं व्यवहार में सामंजस्य तथा संतुलन स्थापित करना होगा। ●

मालवीय जी का कहना यह था कि शिक्षा अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिए है— “यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः”। और इसमें उन्होंने फिर उस वक्त एक कथन उद्धृत किया अपने इशोपनिषद् से— **अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो, य उ विद्यायारताः॥** जो केवल भौतिक विज्ञान की ओर जा रहे हैं, वे अंधकार में गिरेंगे; इससे भी अधिक घोर अंधकार में वे गिरेंगे जो प्रकृति को, Manifestations of the God को नहीं समझते, वे पी-एच.डी. के बाद भी घोर अंधकार में जायेंगे। इशोपनिषद् आगे कहता है— **‘अविद्यां मृत्युं तीर्त्वा विद्यामृतमश्नुते’**। अविद्या से हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति और विद्या से अमृतत्व की प्राप्ति होगी। इसी भावना को साथ में रखते हुए महामना ने यहाँ सभी आधुनिक शिक्षाएँ शुरू की थीं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का उद्देश्य जहाँ एक ओर प्राचीन मनीषियों, का प्रचार-प्रसार व उसे उद्भासित करना था, वहीं दूसरी ओर प्राचीन मनीषियों, प्रज्ञावानों की मान्यताओं, सिद्धान्तों व दिशा-निर्देशों के अनुरूप शिक्षा-प्रणाली को ढालना भी था। यह महामना मालवीय जी की दूरदर्शिता व क्रान्तदर्शिता थी, जिसने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के माध्यम से शिक्षा-प्रणाली में आधुनिक भौतिक विज्ञान और अध्यात्म का संतुलित सामंजस्य प्रस्तुत किया ताकि व्यक्ति जहाँ एक ओर भौतिक विज्ञान के माध्यम से व्यावसायिक कुशलता अर्जित कर जीवन स्तर को समुन्नत कर सके, वहीं दूसरी ओर आध्यात्मिक चेतना से जीवन की गुणवत्ता को ऊर्ध्वगामी करते हुए स्थायी शांति व प्रशांति के पथ पर अग्रसर हो। भौतिक विज्ञान एवं भौतिक पदार्थों की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता, परन्तु वे शाश्वत सुख और प्रशांति के चरम बिंदु तक नहीं ले जा सकते हैं। उसकी प्राप्ति के लिए तो ‘अभ्युदय’ और ‘निःश्रेयस्’ दोनों की ही उपासना एक साथ करनी होगी और यही महर्षि कणाद के अनुसार धर्म है। महामना मालवीय जी के शिक्षा-दर्शन का केन्द्र बिन्दु भी यही है।

महामना के प्रेरक प्रसंग ‘खण्ड’-3

(पेज सं० 164 से)

शिक्षा एवं जीवन दृष्टि : मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

डॉ० दीपा रानी सक्सेना

मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है। बौद्धिक प्राणी होने के नाते अपने जीवन का अस्तित्व बनाये रखने और उसे निरन्तर प्रगति के मार्ग में अग्रसर रखने हेतु सदैव प्रयासरत रहता है। सभ्यता के प्रारम्भ से ही सम्पूर्ण ब्राह्मण्ड, उसके निर्माता को जानने की जिज्ञासा, रहस्यों एवं लक्ष्यों पर अनवरत चिन्तन तथा क्रियान्वयन करता रहता है। चिन्तन एवं क्रियान्वयन के परिणामस्वरूप, इनके सम्बन्धों से जो तथ्य, विश्वास एवं सत्य प्राप्त हुए इसी आधार पर व्यक्ति जीवन जीने का तरीका स्वीकार करता है। जीवन जीने का तरीका ही उसका दर्शन है, उसकी जीवन दृष्टि है। इस दृष्टि का अभ्युदय तत्काल नहीं होता है वरन् यह शनैः शनैः आगे की ओर अग्रसर होती है, तत्पश्चात् व्यवहार के रूप में परिलक्षित होती है। यह दृष्टि व्यक्ति की सोच तथा जीवन की राह को प्रभावित तथा निर्देशित करती है। इसी दृष्टि से प्रोत्साहित होकर वह अपने कार्यों का संचालन करता है। यह दृष्टि सकारात्मक या नकारात्मक हो सकती है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि बालक का विकास तथा उसका पालन पोषण किस प्रकार के पर्यावरण में हुआ है।

व्यक्ति के जीवन का ढाँचा, बीते हुए जीवन तथा पर्यावरण का फल है। पर्यावरण, अवसरों की उपलब्धता एवं विभिन्न प्रकार की परिस्थितियाँ, व्यक्ति की जीवन दृष्टि विकसित करने में अहम भूमिका निभाती हैं। यह जीवन के प्रत्येक भाग में अन्तर्निहित है। दृष्टि ही व्यक्ति की शक्तियों को निर्देशित या विमुक्त, उत्साहित या हतोत्साहित करती है। सकारात्मक सोच को उजागर कर सकती है या नकारात्मक, निषिद्ध कार्यों की ओर भी ले जा सकती है। जीवन दृष्टि से प्रेरित होकर ही व्यक्ति

उचित या अनुचित कार्यों को करता है। प्रायः ऐसा माना जाता है कि एक स्वस्थ अच्छा उचित पर्यावरण सकारात्मक जीवन दृष्टि का विकास करता है। परन्तु ऐसा नहीं होता है, इसका कारण क्या है? ऐसे कौन से तत्त्व हैं जो जीवन दृष्टि को प्रभावित करते हैं? स्वस्थ वातावरण कैसे बनाया जाए? उसमें कैसे सुधार लाया जाए? ऐसे कई प्रश्न हैं। जीवन दृष्टि के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता है। यह दृष्टि, अपनी सकारात्मक सोच के द्वारा उत्कृष्टता के साथ आगे बढ़ती है।

जीवन दृष्टि और शिक्षा एक सिक्के के दो पहलू हैं। जीवन दृष्टि जीवन का विचारात्मक पक्ष है जो, अनुभवों पर आधारित है। शिक्षा क्रियात्मक पक्ष है, ज्ञान पर आधारित है। विचारात्मक पक्ष जीवन के मूल्यों एवं आदर्शों को निर्धारित करता है। यह जीवन दृष्टि विकास की नींव है। शिक्षा, क्रियात्मक पक्ष मूल्यों एवं आदर्शों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करती है। स्वस्थ जीवन दृष्टि के लिए शिक्षा का होना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसी शिक्षा जो व्यक्ति के मूल्यों-आदर्शों, भारतीय विरासत के साथ-साथ ज्ञान को क्रियात्मक स्वरूप प्रदान कर सके, व्यक्ति एवं समाज की प्रगति की दिशा निर्देशित करती है। अतः व्यक्ति की जीवन दृष्टि में संसार का सम्पूर्ण परिवेश समाहित है। जिन व्यक्तियों ने अपनी दृष्टि, सोच, कार्य करने के ढंग को पहचाना है, आलोचनात्मक विश्लेषण किया है एवं एक स्वरूप प्रदान किया है वह अपने जीवन की दिशा स्वयं तय कर लेते हैं। उनमें निर्णय लेने की क्षमता होती है। उत्कृष्टता की ओर बढ़ने की ललक होती है। व्यक्ति को स्वयं को समझने का अवसर देती है। गुण-दोष, कमियों से अवगत कराती है। लक्ष्य पर

पहुँचने तथा समस्याओं के समाधान में सहायता देती है। बाधाओं की पूर्व कल्पना, बाधाओं को नियोजित ढंग से पार करने की क्षमता शिक्षा प्रदान करती है। व्यक्ति इसी के आधार पर भावी जीवन की तैयारी करता है।

जीवन दृष्टि के विकास में कई तत्त्व संलग्न रूप में कार्य करते हैं। ये तत्त्व व्यक्ति की आन्तरिक दशा तथा बाह्य परिस्थितियाँ हैं। आन्तरिक दशा और बाह्य पर्यावरण की अन्तःक्रिया ही व्यक्ति के व्यवहार का निर्धारण करती है। व्यवहार सभी के पास होता है परन्तु जीवन दृष्टि की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ तथा कठिन है। यह एक जटिल प्रक्रिया है। व्यक्ति जब स्वयं की आलोचनात्मक व्याख्या करने लगता है। अपने विचारों-कार्यों को तौलने लगता है। सामाजिक मान्यताओं, संस्कारों के अनुसार अपने को सुधारने का प्रयास करता है, तभी उसकी जीवन दृष्टि विकसित होती है। धीरे-धीरे वह अपनी दृष्टि से अवगत होता है, तत्पश्चात् सदाचरण व्यक्ति के व्यवहार का अंग हो जाता है तथा उसी के निर्देशन के अनुसार चिन्तन तथा कार्य करता है।

आन्तरिक दशा तथा बाह्य पर्यावरण

आन्तरिक दशा से तात्पर्य व्यक्ति के अन्तर्निहित गुणों से है। यह गुण जन्मजात तथा प्रकृतिजन्य होते हैं। वास्तव में बालक अपने माता-पिता एवं पूर्वजों से शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, संवेगात्मक गुणों को विरासत में प्राप्त करता है। माता-पिता तथा अन्य पूर्वजों से प्राप्त होने वाले जन्मजात गुणों को ही वंशानुक्रम, पैतृकता, वंश परम्परा अथवा आनुवांशिकता के नाम से जाना जाता है। इन्हीं गुणों के कारण वैयक्तिक विभिन्नता पाई जाती है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के अन्तर्निहित गुणों का विकास करना है। मनुष्य जन्म से कुछ शक्तियाँ लेकर पैदा होता है। अपनी क्षमताओं, गुणों, शक्तियों के द्वारा पर्यावरण में समायोजन करता है। मनुष्य की ये

जन्मजात शक्तियाँ ही विकास का आधार होती हैं, परन्तु उसका विकास उसी प्रकार होता है जैसे अवसर, अनुभूतियाँ उसे पर्यावरण से मिलती हैं। जीवन के सभी गुण वंशानुक्रम में होते हैं। ये गुण अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी। परन्तु इन गुणों का प्रकट होना पर्यावरण पर निर्भर करता है। पर्यावरण की अनुभूतियाँ और अनुभवों के आधार पर व्यक्ति अपनी सोच, दृष्टि, जीवन जीने के ढंग को रोपित करता है।

पर्यावरण अर्थात् सम्पूर्ण आवरण। मानव विकास के सन्दर्भ में पर्यावरण के तीन रूप दिखाई देते हैं। प्रथम, अन्तःकोशीय पर्यावरण – गर्भावस्था में मनुष्य का विकास इसी पर्यावरण पर निर्भर करता है। माँ के विचार, मानसिक स्थिति, भोजन, अन्तःस्रावी ग्रंथियों का प्रभाव बालक पर पड़ता है। दूसरा, प्राकृतिक पर्यावरण— इसके अन्तर्गत मनुष्य की भौगोलिक परिस्थितियाँ एवं उससे प्राप्त होने वाले प्राकृतिक पदार्थ आदि आते हैं। तीसरा, सामाजिक पर्यावरण— इसमें व्यक्ति का परिवार, समाज, संस्कृति एवं शिक्षा आदि तत्त्व आते हैं। भारतवर्ष में आदि काल से प्राकृतिक पर्यावरण के सान्निध्य में शिक्षा का महत्त्व रहा है। वर्तमान में सामाजिक पर्यावरण में ही शिक्षा का प्रावधान है। पर्यावरण बालक के व्यक्तित्व के विकास में अहम् भूमिका निभाते हैं। पर्यावरण प्राणियों के जीवन, स्वभाव, व्यवहार, बुद्धि, व परिपक्वता को प्रभावित करता है। पर्यावरण का स्वरूप, असीमित है। व्यक्तित्व के विकास में पर्यावरण की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। पर्यावरण व्यक्तित्व पर अमिट तथा दीर्घकालिक प्रभाव छोड़ता है।

मनुष्य सामूहिकता की मूल प्रवृत्ति तथा अधिगम की सभी शक्तियाँ लेकर पैदा होता है। जिस पर्यावरण में रहता है वहाँ की भाषा तथा व्यवहार आदि सीखता है। वह जिन लोगों के बीच रहता है उन्हीं की आदतों, आदर्शों, विश्वासों और मूल्यों को

सीखता है। उन्हीं के अनुसार आचरण तथा व्यवहार करता है। अतः पर्यावरण व्यक्ति के व्यक्तित्व और कार्य क्षमता को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करता है। व्यक्ति जो कुछ सोचता, करता या अनुभव करता है, वह वंशानुक्रम के कारकों और वातावरण के प्रभावों के पारस्परिक सम्बन्धों का परिणाम होता है अर्थात् जैविक दाय तथा प्राकृतिक— सामाजिक विरासत के एकीकरण की उपज है। मानव व्यवहार की प्रत्येक विशेषता वंशानुक्रम और पर्यावरण का अन्तःक्रिया का योग कारक फल है। कौन किसको कितना प्रभावित करता है? कौन किसके लिए उत्तरदायी है? यह जानना अत्यन्त कठिन एवं असम्भव कार्य है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं तथा व्यक्ति के विकास के मार्ग को प्रशस्त करते हैं। व्यक्ति का चिन्तन, कार्य का क्रियान्वयन अथवा अनुभव, अनुभूतियाँ वंशानुक्रम तथा पर्यावरण की परस्पर अन्तःक्रिया का परिणाम है। वंशानुक्रम विकसित होने के लिए क्षमताएं प्रदान करता है। पर्यावरण इन क्षमताओं के विकास का अवसर होने के लिए क्षमताएं प्रदान करता है। पर्यावरण इन क्षमताओं के विकास का अवसर एवं परिस्थितियाँ प्रदान करता है। पर्यावरण अत्यन्त विस्तृत है व्यक्ति उतना ही ग्रहण कर पाता है जितना उसमें सामर्थ्य एवं शक्ति होती है अथवा जिसे वह सीखना चाहता है। प्रारम्भिक जीवन में पर्यावरण की प्रमुख तथा सार्थक भूमिका होती है। परिवार का महत्वपूर्ण योगदान होता है। वंशानुक्रम कार्यशील पूंजी देता है तथा पर्यावरण निवेश करने की परिस्थितियाँ और अवसर प्रदान करता है। वंशानुक्रम जहाँ जन्मजात व प्रकृतिजन्य होता है, वहीं पर्यावरण अर्जित व पोषण आधारित होता है। प्राणी के प्रारम्भिक जीवन में उसके अन्तर्निहित गुण सुप्तावस्था में होते हैं। यह गुण अपने समय, क्षमता के अनुसार परिलक्षित होते हैं। मनोविज्ञान मानव विकास के विभिन्न स्तरों की विशेषताओं से अवगत कराती है। यह बताती है कि किस उम्र में

किस समय यह गुण प्रकट होंगे। बालकों में छिपे अन्तर्निहित गुणों तथा उम्र के अनुसार शिक्षा के उद्देश्यों को निर्धारित किया जाता है। शिक्षा में मानव विकास के स्तरों तथा विशेषताओं के आधार पर ही पाठ्यक्रम तैयार किया जाता है। पाठ्यक्रम के निर्माण में मनोवैज्ञानिक के अतिरिक्त दार्शनिक, सामाजिक, ऐतिहासिक एवं आर्थिक पहलुओं का ध्यान रखा जाता है। पाठ्यक्रम वह अवसर, परिस्थितियाँ, चुनौतियाँ, ज्ञान तथा समस्याएं विद्यार्थियों के सामने रखते हैं जिससे बालकों की क्षमताएं या गुण जाग्रत एवं विकसित हो सकें। बालक का जीवन क्रमबद्ध रूप से आगे की ओर अग्रसर होता है। बाल्यकाल— प्रारम्भिक या प्राथमिक शिक्षा, किशोरावस्था — माध्यमिक शिक्षा तथा प्रारम्भिक स्नातक वर्ष; प्रौढ़ावस्था — स्नातकोत्तर तथा उच्च शिक्षा पाठ्यक्रम। शिक्षा यह भी बतलाती है कि कौन सी शिक्षण विधि, अधिगम के सिद्धान्त, प्रेरणा तथा पुनर्निवेशन की भूमिका, प्रश्न कब, कहाँ, कैसे होंगे, ज्ञान या अनुभव को व्यापकता में कैसे परिवर्तित करेंगे? ज्ञान का स्थानान्तरण कैसे होगा? इसके अतिरिक्त शिक्षा ही शिक्षक को बताती है कि मूलप्रवृत्ति, संवेग, स्थायीभाव, अनुकरण, सहानुभूति, अभिप्रेरणा, रुचि, अवधान, संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, प्रत्यय निर्माण, आदत, थकान, स्मृति, विस्मृति, कल्पना, चिन्तन, तर्क क्या हैं और कैसे विकसित होंगे। कौन से कारक ज्ञान या अनुभव को कितना प्रभावित करते हैं। कौन से बाधक तत्त्व हैं? इन बाधक तत्त्वों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है? परामर्श क्या है? इत्यादि।

अतः शैशवावस्था से ही जीवन दृष्टि के बीज पड़ने लगते हैं। इसमें परिवार तथा शिक्षक की अहम भूमिका होती है। परिवार शिक्षित है, बालक के मनोविज्ञान से परिचित है तो बालक की दृष्टि का सृजन सुदृढ़ और सकारात्मक होगा। अन्य सामाजिक संस्थाएं भी बालक की सोच पर प्रभाव डालती हैं। विद्यालय का पर्यावरण तथा शिक्षक का व्यवहार

जीवन दृष्टि की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। शिक्षक, विद्यार्थियों के लिए कर्तव्य मानक होता है। जीवन दृष्टि की नींव शिक्षक ही डालता है। शिक्षक ही चुनौतीपूर्ण परिस्थितियाँ, संघर्षशील वातावरण, समस्याओं का समाधान, अवलोकन, चिन्तन के अवसर प्रदान करता है। विभिन्न प्रकार के अनुभव व अनुभूतियाँ, चिन्तन, कल्पना ही बालक की दृष्टि विकसित करने में सहायक होती हैं।

समायोजन की प्रक्रिया

प्राणी स्वभाव से ही ध्येयवादी, सोद्देश्यपूर्ण, लचीला तथा समुत्थानशील होता है। वह स्वयं ही अपने तनावों को बढ़ाता है तथा कम करता है। यह प्रक्रिया व्यक्ति के संवेगात्मक जीवन में संतुलन लाती है। उसमें स्वचलित एवं स्वसुधार की प्रक्रिया होती है। मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति संतुलन की प्रक्रिया के प्रति सचेत रहता है। समुत्थान शक्ति द्वारा अपने तनावों को कम करता है। संतुलन की प्रक्रिया में ही उसकी जीवन दृष्टि छिपी रहती है, जिसके माध्यम से वह अपने लक्ष्यों को प्राप्त करता है तथा बाधाओं को दूर करने का प्रयास करता है। अतः समायोजन एक सुव्यवस्था या अच्छे ढंग से परिस्थितियों को अनुकूल बनाने की प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं या माँगों को पूर्ण कर सके। मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ होती हैं। आवश्यकताएँ ही व्यक्ति को लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रेरित करती हैं। उसी से वह सफलता व उत्कृष्टता की ओर अग्रसर होता है। व्यक्ति सरलता से लक्ष्य प्राप्ति में सफल हो जाता है तो आत्म संतुष्टि व सुखद अनुभूति होती है। माँगों का जीवन दृष्टि में महत्त्वपूर्ण योगदान है। माँगों की पूर्ति में व्यक्ति जिस मार्ग का चयन करता है उसका प्रभाव व्यक्ति की जीवन दृष्टि के विकास पर पड़ता है। प्रत्येक अनुभव-अनुभूतियाँ क्रमबद्ध रूप से शृंखला बनाते हुए संग्रहित होती हैं। अतः समायोजन की प्रक्रिया में ही जीवन दृष्टि का सार छिपा है। दृष्टि

का सार ही व्यक्ति को सफलता तथा उत्कृष्टता दिलाता है। आवश्यकता की पूर्ति, लक्ष्य का निर्धारण, सफलता की प्राप्ति, आत्म-संतुष्टि इत्यादि जीवन दृष्टि को निर्देशित करते हैं। समायोजन निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति स्वयं और पर्यावरण के बीच अधिक सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध रखने के लिए समय-समय पर व्यवहार में परिवर्तन लाता है। व्यक्ति का व्यवहार ही जीवन दृष्टि है। दृष्टि से ही व्यक्ति के व्यवहार की पहचान होती है। व्यवहार की पहचान ही व्यक्ति की सन्तुलित दशा का द्योतक है। सकारात्मक जीवन दृष्टि व्यक्ति को पर्यावरण, परिस्थितियों का ज्ञान, नियंत्रण तथा संतुलन की क्षमता के अनुकूल आचरण करने की दृष्टि प्रदान करती है। साधारण परिस्थितियों में भी सन्तुष्ट तथा सुखी रहकर कार्यकुशलता को बनाए रखती है। ऐसा व्यक्ति समाजिकता की भावना से युक्त, आदर्श चरित्र, संवेगात्मक रूप से सन्तुलित, उत्तरदायित्व, चुनौतियों को स्वीकार करने वाला, स्पष्ट उद्देश्य, साहसी, कठिनाइयों तथा समस्याओं का सामना करने वाला होता है। अप्रिय अनुभूतियाँ व्यक्ति के जीवन में नकारात्मक रूप से कार्य करती हैं। इसी प्रकार जब व्यक्ति को अपनी इच्छाओं, आवश्यकताओं, रुचियों के प्रतिकूल शक्तियों का सामना करना पड़ता है तो उसके अन्दर मानसिक द्वंद्व उत्पन्न हो जाते हैं। कुण्ठा व मानसिक द्वंद्व के परिणाम स्वरूप व्यक्ति में तनाव उत्पन्न होता है। तनाव व्यक्ति को क्रियाशील बनाता है, फलस्वरूप लक्ष्य प्राप्ति व बाधाओं को दूर करने का प्रयास करता है। सृजनात्मक और परिस्थितियों के अनुकूल रहकर बाधाओं को दूर करने में यदि वह सफल रहता है तो वह वातावरण के साथ समायोजन स्थापित कर लेता है। यदि व्यक्ति बाधाओं को दूर करने में असमर्थ या अवांछनीय मार्ग को अपना लेता है तो जीवन अव्यवस्थित हो जाता है। इस प्रकार के लोगों में परिस्थितियों से लड़ने तथा अनुकूलन की

क्षमता कम होती है। ऐसे व्यक्ति रक्षात्मक युक्तियाँ अपनाते हैं। अपनी कमियों को पहचानकर भी स्वीकार नहीं करते। गलती नहीं मानते, अनावश्यक वार्तालाप, समय की बर्बादी इनका ध्येय होता है। जीवन दृष्टि, सोच सीमित, अस्थिर, लचीली होती है। किसी भी मार्ग से तत्काल सुख परम उद्देश्य होता है।

अतः शिक्षा का प्रमुख कार्य व्यक्ति को संतुलित जीवन जीने के लिए तैयार करना है। इसके लिए आवश्यक है विभिन्न परिस्थितियों का सामना करने के अवसर प्रदान करना, निराशाओं, असफलताओं का दृढ़तापूर्वक सामना, आत्मविश्वास, निर्णय शक्ति, विवेक, समझदारी को विकसित करना है। साथ ही आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और परिस्थितियों के बीच सामंजस्यपूर्ण सन्तुलन बनाए रखने का प्रशिक्षण देना। इसके लिए आवश्यक है कि विद्यालय साधन सम्पन्न हो। शिक्षण कार्य एवं सहपाठ्यचारी क्रियाओं की उत्तम व्यवस्था, अनुशासन तथा भयमुक्त वातावरण हो। शिक्षक ईमानदारी से उत्तरदायित्वों का निर्वाह, करे, उसे विद्यार्थी के साथ प्रेम, सहानुभूति एवं सहयोगपूर्ण व्यवहार, विद्यार्थी की शारीरिक-मानसिक योग्यता एवं क्षमता का स्पष्ट बोध होना चाहिए। उनमें आत्मविश्वास एवं साहस जाग्रत करना, विद्यार्थियों को क्रियाशील बनाना। इसके अतिरिक्त बाधाओं को समाप्त करने की योग्यता, अन्य मार्ग खोजने की जिज्ञासा, लक्ष्यों की प्रतिस्थापना करने की क्षमता, पूर्व अनुभवों को खोजने व जागृत करने की जिज्ञासा, दूर दृष्टि के आधार पर विश्लेषण तथा निर्णय सामर्थ्य की क्षमता, नकारात्मक संवेगों से बचने का प्रशिक्षण इत्यादि एक शिक्षक के कुछ अन्य मुख्य कार्य हैं।

सकारात्मक जीवन दृष्टि के लिए आवश्यक है कि प्रारम्भ से ही बालकों में अपनी समस्याओं को समझने एवं उनका सामना करने तथा हल करने की इच्छाशक्ति एवं दृढ़ संकल्प जाग्रत करना। आत्म-विश्वास, निर्णय-शक्ति, स्वतंत्र-चिन्तन, स्वतंत्र

अभिव्यक्ति के अवसर प्रदान करना। पर्यावरण विरोधी शक्तियों का मुकाबला करने के लिए सामाजिक एवं मानवीय मूल्यों का व्यावहारिक प्रयोग अत्यंत आवश्यक है। जिन व्यक्तियों ने अपनी दृष्टि, सोच-विचार, कार्य करने के ढंग को पहचाना है, एक स्वरूप दिया है, विचारों का आलोचनात्मक विश्लेषण किया है वह अपने जीवन में समायोजन हर परिस्थिति में कर लेते हैं तथा एक सुखद जीवन व्यतीत करते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य

दैनिक जीवन में भावनाओं, इच्छाओं, महत्वाकांक्षाओं और आदर्शों में सन्तुलन रखने की योग्यता ही व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य है अर्थात् जीवन की वास्तविकताओं का सामना, स्वीकार करने की योग्यता, सफल लक्ष्य प्राप्ति तथा आत्मसंतुष्टि—यही है जीवन दृष्टि के विकास की आधारशिला। व्यक्ति के ज्ञानात्मक, प्रभावात्मक, क्रियात्मक तीनों पहलू जीवन दृष्टि को विकसित तथा प्रभावित करते हैं। शिक्षा बालक के प्रारम्भिक काल से ही जन्मजात एवं अर्जित क्षमताओं की पूर्ण अभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करती है। बालक की उम्र के अनुसार क्षमताओं, इच्छाओं और संवेगों की क्रियाशीलता में परस्पर मेल तथा सन्तुलन को बनाती है। सकारात्मक जीवन दृष्टि के लिए स्वस्थ शरीर तथा मन की आवश्यकता है। शिक्षा का महत्त्वपूर्ण कार्य मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना है। मानसिक स्वास्थ्य समायोजन की वह प्रक्रिया है जिसमें समझौता, सामंजस्य विकास और निरन्तरता का समावेश रहता है। जीवन दृष्टि में विचार, भावनाएं और क्रियाएं एक ही उद्देश्य के लिए सम्मिलित रूप से कार्य करती हैं। अतः मानसिक स्वास्थ्य तथा जीवन दृष्टि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। वातावरण के साथ समायोजन करने की प्रक्रिया के दौरान व्यक्ति के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है। प्रत्येक व्यक्ति

अपने व्यक्तित्व के अनुरूप वातावरण के साथ एक अनूठे ढंग से समायोजन करता है। समायोजन का यह ढंग ही उस व्यक्ति का परिचायक होता है। व्यक्तित्व व्यक्ति के व्यवहारों एवं विचारों को क्रियाशील बनाता है एवं निर्देशित करता है। अतः जीवन दृष्टि व्यक्ति का व्यक्तित्व है। जीवन दृष्टि व्यक्ति के विशिष्ट व्यवहार तथा विचारों को इंगित करती है। व्यक्तित्व अर्थात् जीवन दृष्टि केवल वातावरण के साथ समायोजन को निर्धारित नहीं करता वरन् व्यक्ति की पहचान बताने वाले उसके विशिष्ट व्यवहार एवं विचारों का निर्धारण भी करता है। व्यक्तित्व प्रचलित, चुनौतीपूर्ण, महत्वपूर्ण तथा भ्रामक प्रत्यय है। जीवन दृष्टि भी व्यक्तित्व के समान गुणों का समग्र रूप है। जीवन दृष्टि में भी परिवर्तनशीलता तथा निरंतरता होती है। परिस्थितियों के अनुरूप व्यक्ति तरह-तरह से समायोजन करता है, जिसके प्रभाव से जीवन दृष्टि में परिवर्तन होते हैं। जीवन दृष्टि काफी लम्बे अन्तराल में अन्य परिस्थितियों से प्रभावित होकर अत्यन्त मंद गति से गतिशील होती है। व्यक्ति को स्वयं जीवन दृष्टि का ज्ञान काफी समय बाद होता है।

व्यक्ति का व्यक्तित्व ही जीवन दृष्टि है। जीवन दृष्टि का विकास व्यक्ति के अन्दर उपस्थित अभिप्रेरकों के द्वारा संगठित रूप से होता है। व्यक्तिगत लक्ष्यों की प्राप्ति की प्रवृत्ति के द्वारा व्यक्ति की जीवन दृष्टि को समझा जा सकता है। मानव अभिप्रेरक जन्मजात होते हैं, परन्तु आश्रित होते हैं व्यक्ति की माँगों पर। दैहिक माँग सर्वाधिक प्रबल होती है, जबकि स्वयं सिद्धि सर्वाच्च सोपान की माँगें सर्वाधिक निर्बल होती हैं। स्पष्ट है कि निम्न सोपानों की सन्तुष्टि के पश्चात् ही व्यक्ति की आत्मसिद्धि माँगें क्रियाशील हो जाती हैं। आत्मसिद्धि से तात्पर्य स्वयं की क्षमताओं को पहचान कर उनके अनुरूप स्वयं को विकसित करना है। इस अवस्था में व्यक्ति सामाजिक मूल्यों के प्रति

रुझान एवं अनुकरण करता है। आत्मसिद्धि की माँग सर्वाधिक निर्बल होते हुए भी व्यक्ति स्व-अनुशासन, स्वनियंत्रण, सतत प्रयास, साहस, संकल्प, आत्मविश्वास, आदर्श एवं मूल्यों का पालन, व्यक्तिगत वर्धन, स्वतंत्रता, स्वाभिमान जैसे गुणों की आवश्यकता होने के कारण अधिकांश व्यक्ति प्रायः आत्मसिद्धि तक नहीं पहुँच पाते। फलस्वरूप जीवन दृष्टि विकसित नहीं हो पाती है। ऐसा देखा गया है कि बाल्यावस्था में अत्यधिक स्नेह या तिरस्कार अथवा अत्यधिक स्वतंत्रता या नियन्त्रण का सामना करने वाले व्यक्ति आत्मसिद्धि तक नहीं पहुँच पाते हैं या वह व्यक्ति जो जीवन में प्रायः असफल हुए हैं। कुंठा व तनाव से प्रायः ग्रसित रहते हैं, ऐसे व्यक्ति भी आत्म सिद्धि नहीं प्राप्त कर पाते हैं।

जीवन दृष्टि से ओत-प्रोत व्यक्ति में वर्द्धक अभिप्रेरक अधिक क्रियाशील रहते हैं। इनमें सच्चाई, पूर्णता, न्याय, विनोदशीलता, अद्वितीयता पाई जाती है, परन्तु इनका प्रतिशत कम होता है। जीवन दृष्टि में भी वैयक्तिक विभिन्नता है। जब व्यक्ति का अपना कोई स्पष्ट जीवन दर्शन नहीं होता, उसके अपने कोई मूल्य नहीं होते और अपना कोई स्पष्ट उद्देश्य अथवा लक्ष्य नहीं होता, तब ऐसे व्यक्ति जीवन दृष्टि का उचित, सकारात्मक सृजन नहीं कर पाते। जीवन दृष्टि व्यक्ति का विकासात्मक इतिहास अर्थात् उसका व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व विकास में शरीर गहनात्मक, समूह सदस्यात्मक, भूमिकागत कारक, विभिन्न भूमिकाओं एवं उनका निर्वाह का ढंग, परिस्थितिजन्य कारक जैसे निर्धारक विशेष स्थान रखते हैं। जीवन दृष्टि जटिल प्रक्रिया है। यह एक संश्लेषणात्मक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति, परिवार, समाज, पड़ोस, देश, राष्ट्र समाहित हैं। जब मनुष्य इस संश्लेषणात्मक प्रक्रिया से गुजरता है, तभी व्यक्ति और राष्ट्र का निर्माण होता है। शिक्षा एक घटक है, जो मानव चरित्र का निर्माण करती है। ●

साहित्य और मूल्य

अखिल कुमार★

डॉ मधु कुशवाहा★ ★

कहते हैं कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। समाज में घटने वाले कार्य व्यापारों को साहित्य लिपिबद्ध शब्दों व विधागत प्रारूपों में सामने प्रस्तुत करता है। मतलब मोटे-मोटे शब्दों में साहित्य समाज के यथार्थ, उसकी जारी सच्चाइयों व संघर्षों तथा विभिन्न तबकों या प्रयासों की जीवन्तता को उकेरता है। किन्तु साहित्य महज यथातथ्य वर्णन नहीं करता, वरन् सोचने, चिंतन करने तथा श्रेष्ठ व्यवहारों को प्रोत्साहित करने का भी कार्य करता है। सर्वप्रथम यह महज उपदेश नहीं कि 'ये करना चाहिए ये नहीं', 'उससे लोगों में समता फैलती है, इससे उनको दुःख होता है' आदि-आदि, साहित्य इन्हीं बातों को हृदय को छूने वाली भाषा, चिंतनों व तर्क को झकझोरने वाले लहजे और दिल को कचोटने वाली शैली में सामने पेश करके आपको सोचने, समझने और खुद श्रेष्ठ चयन करने को प्रेरित करता है। इस रूप में यह समाज का पथ-प्रदर्शक भी होता है। मूल्य भी तो यही श्रेष्ठ चयन व श्रेष्ठ पथ हैं।

दो उदाहरण व पैटर्न प्रस्तुत हैं— चयन के। दोनों ही मूल्यों के संदर्भ में हैं। एक यह कि रूखा-सूखा उपदेशात्मक ज्ञान व आदर्श प्रस्तुत करके उसे जीवन में उतारने को कहा जाय। दूसरा यह कि हर बिन्दु पर दृष्टांत पुष्टि द्वारा रूखे-सूखे व स्थूल आदर्शों पर चिंतनों को बढ़ावा दिया जाय व खुद श्रेष्ठ चयन को प्रेरित किया जाय (जो कि मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र ज्ञान चर्चा नहीं, जीवन चर्चा द्वारा बखूबी कर रहा है)। आधुनिक शिक्षाशास्त्र व अधिगम सिद्धान्त में भी 'लर्निंग बाई डूइंग' अर्थात् करके, खुद के अनुभव द्वारा सीखने

के महत्त्व को प्रतिष्ठित किया गया है। 'गरीबों पर दया करो' का दबाव मूलक मूल्य 'वह तोड़ती पत्थर' के समान मूल्य से प्रभाव में कमतर ही प्रदर्शन करेगा। 'असहायों पर दया करो' की सपाट बयानी 'सिद्धार्थ के पक्षी रक्षा' वाले वाक्ये से ज्यादा प्रभावशाली नहीं होगी। यहीं पर दर्शनों की कार्यक्षमता साहित्य की तुलना में घटती व न्यून होती प्रतीत होती है। बड़े से बड़ा दार्शनिक बौद्धिक विमर्श, परा होती जा रही घटनाओं तथा संप्रदायों के खंडन-मंडन में ही अपने दार्शनिक मूल्यों की स्थापना को अपना प्रमुख कर्तव्य मानकर चलता है। वह रास्ता बताता है किन्तु रास्ते को आलोकित नहीं करता, उस पर हमराही नहीं बन कर चलता। यह काम साहित्य करता है। साहित्य जनपक्षधरता, आम आदमी, आम समस्या, दैनन्दिन व्यवहार में मूल्य प्रतिष्ठा को दृष्टांतों के द्वारा कभी कथारूप में, कभी काव्य रूप में, कभी ललित निबंध में, कभी डायरी में चिंतन मनन में, कभी व्यंगों के चुभन द्वारा तथा अन्य विविध शब्द रूपों में प्रस्तुत करता है। तात्पर्य है कि साहित्य व साहित्यकार तत्त्वचिंतन नहीं, मूल्यचिंतन नहीं, मूल्य व्यवहार की भावभूमि प्रस्तुत करता है। प्रश्न है— मूल्यों की प्रयोगशाला या व्यवहारभूमि क्या है? उत्तर है— समाज। मूल्य किसके लिए? उत्तर है व्यक्ति के लिए, और चूँकि समाज व्यक्तियों का समुच्चय है अतः मूल्य-समाज के लिए।

बुद्धि के स्तर से समाज के स्तर पर मूल्यों को उतारने का कार्य साहित्य ही कर सकता है। आम जनता जो यदि निरक्षर नहीं तो गूढ़ दार्शनिक चिंतन करने लायक साक्षर भी नहीं है, वह सत्य के मूल्य का 'सजन रे झूठ मत बोलो, खुदा के पास

जाना है (फिल्म— तीसरी कसम) द्वारा, अपरिग्रह के मूल्य को 'दो गज जमीन' की कथा द्वारा, प्रेम के मूल्य को 'उसने कहा था (द्वारा— चन्द्रधर शर्मा गुलेरी) तथा 'कृष्णकली (शिवानी कृत)' द्वारा देश प्रेम के मूल्य को 'पुष्प की अभिलाषा' और अब्दुल हमीद जैसे देशभक्तों की कथाओं द्वारा, नैतिकता व विश्वास के मूल्य को 'हार की जीत' द्वारा, तथा दया के मूल्य को 'बूढ़ी काकी' व 'ठाकुर का कुँआ' (दोनों मुंशी प्रेमचन्द कृत) द्वारा कहीं ज्यादा श्रेष्ठ व शुद्ध सिद्धान्तों की अपेक्षा स्थायी तरीके से हृदयंगम कर सकती है। इसके अतिरिक्त भी कुछ जीवनियां जैसे गांधीजी, प्रेमचन्द्र, अज्ञेय आदि की, जीवन के हर घटनाक्रम से उनके श्रेष्ठ जीवन आदर्शों व मूल्यों को छलकाती हैं।

साहित्यकार व साहित्य सृजन की अभिव्यक्ति के कई प्रारूप होते हैं। कुछ मूल्यों को प्रस्तुत करते हुए प्रसंगों की ऐसी भावभूमि तैयार करते हैं कि कलेजा कचोटने लगता है। साहित्य की यह विशेषता है कि एक बार खुद के आकर्षण में पाठक को जहाँ बांधा, फिर वह अपना अभीष्ट प्राप्त करके ही रहेगा, फिर वह पाठक को पात्रों पर अवलंबित करके अपना मंतव्य प्राप्त करके ही रहेगा। 'गोदान' का पाठक कभी होरी के लहजे से सोचता है, कभी गोबर के, कभी धनिया के, कभी रायसाहब और कभी खन्ना या गोविन्दी के, किन्तु सभी अंतर्द्वंदों के बाद जब कथा चरमोत्कर्ष पर जाकर होरी के अवसान बिन्दु पर पहुँचती है तो अचानक ही गोदान के सारे संदेश सिमटकर 'दया मूल्य' व 'गरीबोद्धार' पर केन्द्रित हो जाते हैं। पाठक एक अदृश्य मूर्छा की सी स्थिति में हृदय में एक टीस सी महसूस करता है कि काश होरी बच जाता, काश वह एक गऊ का सुख पा जाता, काश कभी तो किसान शोषण की चक्की से पिसने से बचे रह पाते। यह साहित्यिक दुखान्त भी मूल्यों के लिहाज से ज्योतिर्युक्त

है क्योंकि यह हमारी/समाज की शोषक प्रवृत्तियों का विरेचन व शोधन करने की क्षमता रखता है। इस दृष्टि से धर्मवीर भारती जी की दुखान्त व दुःखप्रधान साहित्य में सिद्धहस्तता जगजाहिर है। उनके उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' व कहानियों 'गुल की बन्नो' तथा 'सावित्री नंबर दो' तो अपने कथानकों द्वारा दया, त्याग समर्पण व प्रेम जैसे मूल्यों का सामाजिक अन्तरण करते ही हैं, 'बन्द गली का आखिरी मकान' तो हफ्तों की बौद्धिक एकांगिता व गहरे विषाद युक्त चिंतन को जन्म देता है जो संबंधों के गहरे खालीपन में मूल्यों की स्थापना की ओर मुँह बाए खड़ा मिलता है।

अरस्तू का काव्यशास्त्रीय विरेचन सिद्धान्त भी इसी भावभूमि पर खड़ा है जिसके तहत काव्यरूप 'त्रासदी (ट्रेजडी)' अपने प्रभाव द्वारा मानव मन के दोषों का शुद्धीकरण या विरेचन कर देती है। वह पात्रों के दुःखों को दर्शकों पर आरोपित कर उन्हें सोचने व भविष्य में वैसा गलत कदम उठाने से रोकने पर मजबूर करती है, जिसके परिणामस्वरूप पात्र दुःख में पड़ा था। इस क्रम में कॉमेडी या सैटायर या आइरोनी या व्यंग कथा भी मूल्य स्थापना का कार्य बखूबी करते हैं। 'रागदरबारी' का लंगड़ दया मूल्य को, वैद्यजी का चरित्र ईर्ष्या उत्पन्न करके सच्चा देशभक्त व लोकतंत्रिक बनने के मूल्य को तथा खन्ना मास्टर का चरित्र अधिकार चेतना को दर्शाते हैं। इसी प्रकार 'भोलाराम का जीव' और 'प्रेमचन्द्र के फटे जूते' (दोनों परसाई जी कृत) आदि विभिन्न कुरीतियों व भ्रष्टाचारों पर प्रहार करते हुए सूक्ष्म मूल्यों को प्रसारित करते हैं। काव्य में कबीर के आडंबरों पर चोट करते पद व दोहे, सूर के प्रेम पद, प्रसाद व घनानन्द के काव्य—आंसू रासो साहित्यों के देश प्रेम युक्त पद आदि भी विविध श्रेष्ठ मूल्यों का संचरण कभी प्रत्यक्ष, कभी प्रतीक रूप में करते हैं।

तात्पर्य यह है कि मूल्य चिंतन, पालन व मूल्य प्राप्ति के लिए साहित्य से अच्छी उर्वर भूमि और किसी अनुशासन की नहीं हो सकती। यह अंधविश्वासों व कूप मंडूकताओं की जड़ पर प्रहार करता हुआ श्रेष्ठ वैज्ञानिक मूल्यों का प्रसार भी करता है। यदि बालक का मस्तिष्क एक कोरी स्लेट के समान माना जाय जिस पर लिखा मृत्यु तक अमिट रहता है तो भी उस पर स्थूल आदर्शों

व मूल्यों की अमिट छाप कथा व कविता की रोशनाई में डुबो कर ही लिखी जा सकती है। कोरा मूल्य ज्ञान उसकी समझ जिसे मनोविज्ञान में स्कीमा/स्कीमेटा भी कहते हैं, को न तो बदल पायेगा न उसका ध्यान केन्द्रित कर पायेगा। लोरियां व जातक कथाएँ या प्रेरक प्रसंगों के किस्से बचपन से ही बच्चों की स्कीमा में सूचनावृद्धि कर उसके आत्म संप्रत्यय व वातावरण आत्म को समृद्ध करते हैं।●

शिक्षा प्रचार की लगन, नारी उत्थान के लिए समर्पण, देशभक्ति एवं समाजसेवा की भावना से परिपूर्ण, कुशल अधिवक्ता, श्रेष्ठ संपादक, धर्म के मूल सिद्धान्तों को जीवन में व्यवहारिक रूप देने वाले, अस्पृश्यता निवारण के समर्थक, विरोधियों के भी प्रिय, भिक्षुक सम्राट्, परोपकार एवं उदारता की प्रतिमूर्ति, आदि उत्कृष्ट सदगुणों से सम्पन्न बहुमुखी प्रतिभा को इस देश की जनता ने स्वयं ही महामना की उपाधि से विभूषित कर दिया।

भारतीय संस्कृति पर आधारित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना ही मालवीय जी को महापुरुष सिद्ध करने के लिए काफी है। मालवीय जी के पिता पं० ब्रजनाथ जी श्रीमद्भागवत कथा कहने से थोड़ी आय कर पाते थे, जिससे बड़े परिवार का भरण-पोषण होता था। उस समय स्कूल की फीस समय पर देने की भी गुंजाइश नहीं थी। इनकी माता समय-समय पर आभूषण गिरवी रखकर स्कूल के खर्च की व्यवस्था किया करती थीं। बड़े होने पर मालवीय जी को वे निर्धनता के दिन याद रहे और वे सदैव निर्धन विद्यार्थियों की फीस माफ करके उनकी सहायता करते रहते थे। छात्रावास में जाकर विद्यार्थियों से पूछते रहते थे कि व्यायाम करते हो या नहीं? संध्या वन्दन करते हो या नहीं? दूध पीते हो या नहीं? इत्यादि।

मालवीय जी केवल लड़कों की शिक्षा को ही नहीं, वरन् लड़कियों की शिक्षा को उतना ही आवश्यक और महत्वपूर्ण समझते थे। विश्वविद्यालय में लड़कियों के लिए ऊँची शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा दी गयी थी। विद्यालय के संस्कृत महाविद्यालय में पढ़ाने वाले एक अध्यापक ने एक लड़की को वेद पढ़ाने से इंकार कर दिया था, पर मालवीय जी ने इसका प्रतिवाद करके उसको पढ़ने की अनुमति दी थी। उन्होंने सुदृढ़ तर्कों के आधार पर स्त्री-शिक्षा का महत्व सिद्ध किया। उन्होंने कहा कि जिस शिक्षा द्वारा पुरुषों में मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक गुणों का प्रकाश होता है, जिसकी सहायता से जीवन उच्च हो जाता है, उसी शिक्षा को पाकर स्त्रियों के मन और हृदय उन्नत न होकर अधोगति की ओर आकर्षित होंगे, यह कैसे आश्चर्य की बात है? जो शिक्षा पुरुषों को प्रकाश की ओर ले जाती हो वही स्त्रियों को अंधकार की ओर घसीट ले जाएगी, यह कहाँ का विचित्र न्याय है?

महामना के प्रेरक प्रसंग 'खण्ड'— 3

(पेज सं० 408 से)

राज्य एवं शिक्षा

डॉ० गोपाल प्रसाद नायक

सामान्यतः राज्य शब्द का प्रयोग राष्ट्र और सरकार के लिए किया जाता है। परन्तु वास्तव में समाजशास्त्रीय भाषा में राज्य एक सामाजिक समूह होता है जिसकी अपनी भौगोलिक सीमा, जनसंख्या, सरकार और प्रभुसत्ता होती है।

राज्य के अनेक कार्य हैं उनमें शिक्षा एक आवश्यक कार्य है। चूँकि राज्य का अस्तित्व सुयोग्य एवं सुशिक्षित नागरिकों पर निर्भर करता है, सुयोग्य नागरिकों के निर्माण हेतु शिक्षा अति आवश्यक है।

प्राचीन काल में मनुष्य ने अपने लाभ के लिए अपनी इच्छा से शिक्षा व्यवस्था की थी। राज्य का शिक्षा पर कोई नियंत्रण नहीं था। मध्यकाल में विद्यालय धार्मिक संस्थानों के अधीन थे। धार्मिक संस्थाएँ शिक्षा के कार्य में राज्य के हस्तक्षेप का विरोध करती थीं। परन्तु जैसे-जैसे मनुष्य विवेकशील होता गया वैसे-वैसे उसने राज्य के द्वारा शिक्षा की व्यवस्था करने की आवश्यकता का अनुभव किया। सत्रहवीं शताब्दी तक शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण हो गया।

शिक्षा पर राज्य का अधिकार होना चाहिए अथवा नहीं, इस विषय में दो प्रमुख मत हैं। प्रथम मत है, राज्य को शिक्षा में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। द्वितीय मत के अनुसार राज्य का शिक्षा पर नियंत्रण होना चाहिए। शिक्षा पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण होने से सबसे बड़ा दोष तो यह है कि शिक्षा राज्य की दासी हो जाती है उसके द्वारा अंधे राष्ट्रभक्त अवश्य तैयार किये जाते हैं परन्तु स्वतंत्र चिन्तक नहीं। शासक अपने विचारों को थोपने का कार्य करता है। इसी प्रकार राज्य के नियंत्रण के अभाव में राज्य विशेष की शिक्षा का स्वरूप निश्चित नहीं होता। न उसके उद्देश्य निश्चित

होते हैं और न पाठ्यचर्या। इसके अतिरिक्त यह शिक्षा केवल उन्हें ही प्राप्त हो पाती है जो इसे खरीद सकते हैं। जन-साधारण को यह सुलभ नहीं हो पाती।

लोकतंत्रवादी विचारकों के अनुसार शिक्षा पर राज्य का अर्द्ध नियंत्रण होना चाहिए। इनके अनुसार राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने नागरिकों के लिए निश्चित आयु या स्तर तक की अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करे और यह शिक्षा इस प्रकार की हो कि व्यक्ति के स्वतंत्र विकास में सहायक हो जिससे व्यक्ति एवं समाज (राज्य) दोनों का हित हो। यह तभी सम्भव है जब शिक्षा के नियोजन में राज्य और जनता दोनों की भागीदारी होगी। राज्य का कर्तव्य हो कि वह शिक्षा की व्यवस्था का उत्तरदायित्व ले और जनता का कर्तव्य हो कि वह राज्य को इस कार्य के सम्पादन में उसका सहयोग करें।

कुछ लोग विशेषकर साम्यवादी इसे दुहरी शिक्षा व्यवस्था कहकर विरोध करते हैं। उनका तर्क है कि इस प्रकार की व्यवस्था में दो प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था होती है— एक सरकार द्वारा जनसाधारण के लिए और दूसरी निजी संस्थानों द्वारा धनी लोग शिक्षा को खरीद लेते हैं और ऊँचे-ऊँचे पदों एवं व्यवसायों पर उनका कब्जा बना रहता है। निर्धन लोग ऐसा नहीं कर पाते। अतः पिछड़ जाते हैं।

शिक्षा के अभाव में न तो मनुष्य अपने अधिकारों से परिचित हो सकते हैं और न कर्तव्यों से। उनमें विचार करने एवं सत्य-असत्य में भेद करने की शक्ति का विकास भी नहीं किया जा सकता। तब वे देश के जागरूक नागरिक कैसे बन

सकते हैं। अशिक्षित लोग अपने मताधिकार का सही प्रयोग नहीं कर पाते और परिणाम यह होता है कि ऐसे देशों में उचित सरकार का निर्माण नहीं हो पाता। तब राजनीतिक क्षेत्र में लोकतंत्र की सफलता का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार लोकतंत्र के लिए शिक्षा बहुत आवश्यक है।

चूँकि शिक्षा जीवन की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है। कोई भी एक संस्था सभी व्यक्तियों के लिए इसे सुलभ नहीं बना सकती। राज्य, परिवार, धर्म संस्था सभी को मिलकर इस कार्य में योगदान करना चाहिए। अतः यह उचित है कि शिक्षा पर राज्य के सीमित हस्तक्षेप तथा सीमित नियंत्रण की नीति अपनानी चाहिए। राज्य का हस्तक्षेप केवल मार्ग दर्शन के लिए होना चाहिए। आज के प्रजातंत्रीय युग में लोक हित की दृष्टि से शिक्षा की व्यवस्था करना राज्यों का एक अनिवार्य कार्य हो गया है।

कुछ शिक्षाविदों का विचार है कि पाठ्यक्रम पाठ्य सामग्री तथा पाठन विधि के चयन में अध्यापक को पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। यदि उक्त बातें राज्य की ओर से निश्चित की जायेगी तो उसमें स्थानीय आवश्यकताओं तथा बालकों की अभिरुचियों की अवहेलना होगी। विद्यालयों के आन्तरिक मामलों और व्यवस्था में शिक्षकों एवं शिक्षण संस्थानों को स्वतंत्रता देनी चाहिए। चूँकि बिना योग्य शिक्षकों के शिक्षा कार्य भली-भाँति सम्पन्न नहीं हो सकता इसलिए राज्य का कर्तव्य है कि वह सार्वजनिक संस्थानों के अधिकारियों को सुयोग्य तथा योग्य अध्यापकों की नियुक्ति के लिए विवश करें। सरकार को चाहिए कि वह इस प्रकार की योजना बनाए कि अयोग्य शिक्षकों की नियुक्ति न हो सकें। चूँकि शिक्षा प्रक्रिया का केन्द्र बिन्दु शिक्षक होता है इसलिए योग्य एवं कर्तव्यनिष्ठ शिक्षकों से ही शिक्षा में परिवर्तन की आशा की जा सकती है।

प्लेटों ने अपने ग्रन्थ रिपब्लिक में इस बात पर बल दिया था कि उचित शिक्षा राज्य पर निर्भर है और उपयुक्त राज्य की स्थापना उचित प्रकार की शिक्षा द्वारा हो सकती है। प्रत्येक मनुष्य राज्य का एक अंग है। अतः सभी मनुष्यों के लिए समान शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। अतः हम कह सकते हैं कि शिक्षा तथा राज्य घनिष्ठ रूप से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। ●

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय महामना मालवीय जी की देश-भक्ति, शिक्षा-प्रेम, लगन, अदम्य उत्साह एवं साधना का ज्वलंत प्रतीक है। उन्हें अपने परिवार के सदस्यों से भी अधिक इससे प्रेम था। बिस्तर पर लेटे हुए भी वे हरदम उसी की चिन्ता किया करते थे। अपनी कल्पना का संसार बनाते थे। उनकी शैय्या के नीचे दो दान-पात्र धरे रहते थे— एक सनातनधर्म का और दूसरा प्रस्तावित विश्वनाथ मंदिर और विश्वविद्यालय का। दर्शनार्थियों से उनका सर्वप्रथम प्रश्न होता— “क्यों, विश्वविद्यालय देखा?” उत्तर मिलता ‘हाँ देखा’। पुनः प्रश्न होता— “कैसा लगा, कुछ दिया?” और इतना कहते ही आप तत्काल याचना कर बैठते। उसमें न आपको संकोच होता, न झिझक। आपका कहना भी था— “मरि जाऊँ माँगू नहीं अपने हित के काज, परमारथ के कारने मोहि न आवे लाज।” बस, इसी भावना से प्रेरित होकर ये जीवनपर्यन्त हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए एक भिखारी का बाना धारण किये रहे।

महामना के प्रेरक प्रसंग ‘खण्ड’-3

(पेज सं० 147 से)

मूल्यों के अवमूल्यन में सामाजिक दबाव की भूमिका

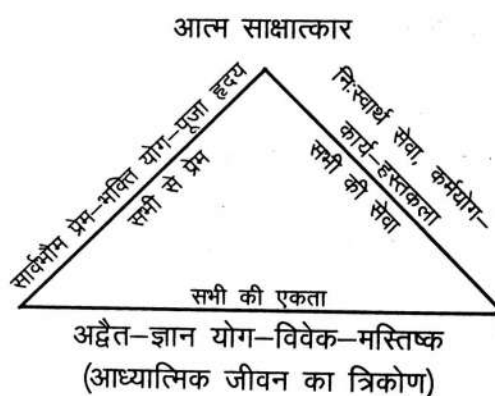
डॉ० देवेन्द्र सिंह

सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि—

वैचारिक शून्यता एवं प्रदूषण ही मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन की आधारशिला है क्योंकि शिक्षा एवं मानवीय मूल्यों में सम्बन्ध—विच्छेद सा हो गया है, जिससे पूरी शैक्षिक पारिस्थितिकी का अवमूल्यन हो गया है। इन संदर्भों में शिक्षा व्यक्ति को विशिष्ट दिशा में अग्रसर करने में अप्रासंगिक सिद्ध हो रही है। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में सुख शान्ति व समृद्धि चाहता है। यह उसकी बहुमूल्य पैतृक सम्पत्ति है। उसे प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है। मानव जाति एक है। इसके सर्वांगीण विकास के लिए धर्म निरपेक्ष शिक्षा (सेकुलर एजुकेशन) महत्त्वपूर्ण है लेकिन कल्याण के पश्चात् ब्रह्म का ज्ञान आवश्यक है। धर्म—निरपेक्ष शिक्षा शरीर के लिए है, जीवन के लिए नहीं। यह आत्मा की प्रकृति को समझने में सहायता नहीं कर सकती है। आत्मा की प्रकृति को समझने की शिक्षा से श्रेष्ठ कोई शिक्षा नहीं है। धर्म—निरपेक्ष शिक्षा भौतिक मूल्यों से प्रभावित शिक्षा है लेकिन मूल्यों के अवमूल्यन को रोकने के लिए आध्यात्मिक शिक्षा (स्प्रिचुअल एजुकेशन) सांदर्भिक रूप से उपादेय है।

मनुष्य का आध्यात्मिक ज्ञान, आध्यात्मिक जीवन पर केन्द्रित है जिसका आधार अद्वैत, सार्वभौम प्रेम इसकी दीवाल है और निःस्वार्थ सेवा इसकी सीलिंग है। आध्यात्मिक जीवन के त्रिकोण की तुलना त्रिवेणी से की जा सकती है। त्रिवेणी (यमुना, गंगा और सरस्वती) के संगम पर श्रद्धालु आस्था एवं विश्वास के साथ एकत्र होते हैं। तीनों नदियाँ कर्म, भक्ति और ज्ञान का समन्वित रूप हैं। प्रख्यात

आध्यात्मिक चिन्तक श्री सत्य साई बाबा आध्यात्मिक जीवन को त्रिवेणी का संश्लेषणात्मक उपागम मानते हैं। मनुष्य का जीवन कर्म भक्ति एवं ज्ञान, कर्म पूजा एवं विवेक, हस्तकला, हृदय और मस्तिष्क और कर्तव्य, समर्पण एवं अनुपालन का एकीकृत उपागम है जो मनुष्य के आध्यात्मिक उन्नति एवं आत्म साक्षात्कार के लिए आवश्यक है।



मूल्य ह्रास और सामाजिक दबाव—

मनुष्य के जीवन के प्रति दृष्टिकोण को मूल्य कहा जा सकता है, जिसे वेदों में मोक्ष का साधन माना गया है। मूल्यों से व्यक्ति अच्छे तथा बुरे कर्मों की पहचान करता है। इसी पहचान से व्यक्ति अच्छे कर्मों की ओर उन्मुख होता है।

आज समाज में मूल्यों का ह्रास हो रहा है, व्यक्ति का नैतिक पतन हो रहा है, समाज की स्थापित मान्यतायें धराशाही हो रही हैं जो एक चिन्ता का विषय बनता जा रहा है। मूल्य समाज के दीर्घ अनुभवों का परिणाम होता है जो किसी समाज के विश्वास, आदर्श और मानदण्ड द्वारा निर्धारित होते हैं। इस समाज के विश्वास व आदर्श पतन से

अनेक प्रकार की अव्यवस्थाओं का जन्म हो रहा है।

जब मनुष्य समाज के विश्वास, आदर्श, सिद्धान्त अथवा व्यवहार मानदण्ड को महत्त्व देता है तो मूल्यों का पालन करता है और समाज की नियमितता बनी रहती है। इस पालन के पीछे सामाजिक दबाव एक मुख्य कारण है। सामाजिक उदासीनता भी मूल्यों में ह्रास का एक मुख्य कारण है।

अक्सर देखा जाता है कि व्यक्ति राज्य के बनाये गये नियम कानून तो तोड़ता रहता है किन्तु समाज के बनाए कानून को कम तोड़ता है। भले ही जिसे समाज मान्यता ने दी हो और राज्य ने मान्यता दे दी हो। यहाँ पर एक चीज ध्यान देने योग्य है कि राज्य के पास औपचारिक दण्ड देने के लिए न्यायालय भी होते हैं। उदाहरण स्वरूप अपने समाज में चोरी, हत्या, डकैती, छिनैती इत्यादि की घटनायें हम रोज देखते हैं पर अन्तर्जातीय विवाह जिसे आज समाज की कम मान्यता मिली है, कम ही देखने को मिलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक दबाव से मूल्यों का पालन कराया जा सकता है।

व्यक्ति जिस समाज में रहता है उसे उसी के मूल्यों को स्वीकार करना पड़ता है। यह उसे कितना महत्त्व देता है, यह उसके ऊपर निर्भर करता है और उसका महत्त्व दिया जाना इस बात पर भी निर्भर करता है कि उस मूल्य के पालन के लिए व्यक्ति के महत्त्व और सामाजिक दबाव को हम कैची के दोनों फलकों की तरह समझ सकते हैं। समाज का एक मूल्य समुच्चय होता है। इस मूल्य समुच्चय में मूल्य प्राथमिकता के क्रम में होते हैं। यह प्राथमिकता का क्रम व्यक्ति द्वारा दी जा रही मूल्यों की महत्ता और समाज द्वारा मूल्यों की स्वीकार्यता पर निर्भर करती है।

समाज द्वारा स्वीकार्यता और स्वीकार्यता

का सक्रिय स्तर मूल्य पालन की व्यापकता पर प्रभाव डालता है। मूल्य किस स्तर पर स्वीकार किया गया है। समाज उसके पालन कराने के लिए कितना दबाव बना रहा है, इस बात पर मूल्यों का पालन निर्भर करता है। आज हमारे समाज में बहुत से मूल्य हैं किन्तु ये सब सिर्फ सिद्धान्तों तक ही सीमित हैं, हमारे व्यवहार को प्रभावित नहीं करते क्योंकि वे मूल्य स्वीकार तो हैं किन्तु उनके स्वीकार्यता का सक्रिय स्तर निम्न होता है। कौन नहीं जानता कि सत्य बोलना चाहिए, प्राणी मात्र से प्रेम करना चाहिए, दूसरों की सेवा करनी चाहिए। कौन नहीं जानता कि बड़ों का आदर करना चाहिए। कमजोरों की सहायता करनी चाहिए। पर यथार्थ रूप में इन बातों को महत्त्व कौन दे रहा है, इनका पालन कौन कर रहा है?

समाज जिस मूल्य को जिस सक्रिय स्तर से स्वीकार करता है, उसी सक्रिय स्तर से उसका पालन होता है, चाहे मूल्य नकारात्मक हो या सकारात्मक। आज अनेक नकारात्मक मूल्यों को समाज स्वीकार कर रहा है या कर चुका है। उदाहरण के लिए नौकरी चाहिए तो ऊपरी आमदनी वाली। आज ऊपरी आमदनी (घूस) करना समाज में व्यापक रूप से स्वीकार्य हो गया है। आम आदमी ऊपरी आमदनी को व्यक्ति के रुतबे के रूप में देखता है, हेय दृष्टि से नहीं। हर छात्र जानता है कि कालेज कैम्पस को स्वच्छ रखना चाहिए किन्तु अपने ही कालेज में कालेज की दीवारों को पोस्टर, बैनर्स और वालपेंटिंग से पाट दिया जाता है क्योंकि छात्रनेता जानते हैं कि इस नकारात्मक मूल्य (दीवाल गन्दा करना) से हमारी लोकप्रियता में वृद्धि होगी, ह्रास नहीं। वर्तमान संदर्भ में नकारात्मक मूल्यों की सार्वभौमिक स्वीकार्यता के कारण शैक्षिक पारिस्थितिकी का अवमूल्यन हो रहा है। इससे स्पष्ट है कि मूल्यों के प्रति सामाजिक दबाव कम हो

रहा है। इसके पीछे कुछ कारक जैसे व्यक्तिवादिता, शहरीकरण, लोगों की व्यस्तता, भौतिकवादिता, प्रदर्शन की भावना इत्यादि कारक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। व्यक्तिवादिता ने सामाजिकता के प्रति लोगों को उदासीन बना डाला है। सच्चे लोगों (मूल्य पालक) का उत्साहवर्धन नहीं किया जा रहा है। मैंने कई ऐसी घटनायें देखी हैं जहाँ किसी व्यक्ति को समाज का समर्थन मिलना चाहिए वहाँ लोग यह कहते हुए निकल जाते हैं कि 'अपने काम से काम रखो।' शहरीकरण ने व्यक्ति को भीड़ में अकेला खड़ा कर दिया है। नगरों का व्यक्ति अपने पड़ोसी तक को नहीं जानता और वह कहां तक उसके मूल्यों की निन्दा और प्रशंसा करके सामाजिक दबाव बना सकेगा। दूसरी तरफ दूसरा व्यक्ति जो समाज में अकेला खड़ा है उसे मूल्यों के समर्थन और विरोध किये जाने से क्या प्रभाव पड़ता है। इस चकाचौंध की दुनियाँ में तो भौतिक प्रदर्शन को ही वरीयता मिलती है और व्यक्ति इसकी प्राप्ति ऐन-कैन प्रकारेण कर रहा है। सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों का समर्थन और पालन तर्क द्वारा नहीं हो सकता।

इसके लिए सामाजिक दबाव होना ही चाहिए। एक ही आधार नकारात्मक मूल्य और सकारात्मक मूल्य दोनों के लिए दिए जा सकते हैं। आपने देखा होगा कि गलत कार्यों को करने के लिए कतिपय लोगों को रिश्वत देने पर यह कहते हैं कि हम यह पाप की कमाई नहीं ले सकते क्योंकि हमारे भी बाल-बच्चे हैं। वहीं दूसरी ओर कुछ लोग इसी आधार पर घूस मांगते हैं कि हमारे भी बाल बच्चे हैं। इस दोनों मूल्यों का आधार तो एक ही है।

यहाँ पर प्रश्न यह है कि उस आधार को समाज किस मूल्य के संदर्भ में स्वीकार करता है। किस आधार को मानकर समाज (नैतिक ही सही) दबाव बनाता है। जिस मूल्य को मानकर

दबाव बनाना है उस मूल्य के पालन में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।

मूल्यों के लिए सामाजिक दबाव बनाने के लिए समाज में कुछ क्रियाशील इकाइयाँ होनी चाहिए जो मूल्यों के उल्लंघन करने वाले को सजा दे सकें। प्राचीन काल में कुछ जातीय और ग्रामीण पंचायती संस्थाएँ होती थीं जिसका अवशेष आज भी गांवों में बचा है, मूल्यों के पतन को नियमित करती थीं। ये संस्थाएँ हुक्का-पानी बन्द जैसे साधनों से सामाजिक मूल्यों का पालन करवाती थीं।

सामाजिक दबाव का होना इस बात का द्योतक नहीं है कि समाज में सकारात्मक मूल्यों को ही प्रोत्साहन मिलेगा। हर समाज की अपने मूल्य और मान्यताएँ होती हैं। जो देशकाल और परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती हैं। आज के सकारात्मक मूल्य (स्थाई प्रकृति के मूल्यों को छोड़कर जैसे-सत्य) कल के नकारात्मक मूल्य हो गये हैं। उदाहरण के लिए— तुर्कों के आक्रमण तथा शासन काल में जिसमें कुंवारी सुन्दर लड़कियों को बलपूर्वक तुर्क उठा ले जाते थे (जाकी बेटी क्वारी देखी, ता घर में डारौ तरिवार— पृथ्वीराज रासो) से सतीत्व की रक्षा के लिए पर्दा प्रथा तथा बाल-विवाह को प्रोत्साहन दिया गया, जो तत्कालिक सकारात्मक मूल्य थे। समय परिस्थितियाँ बदलीं। बाल विवाह और पर्दा प्रथा नकारात्मक मूल्य हो गये किन्तु इन पर सामाजिक दबाव जारी रहा। यह हम जाति-व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था, इस्लाम में चार विवाह की मान्यता, तलाक इत्यादि मामलों में देख सकते हैं।

आलोचनात्मक मूल्यांकन—

मनुष्य एक सामाजिक सांस्कृतिक प्राणी है। इसका समाज से अनन्य सम्बन्ध होता है। व्यक्ति, समाज व मूल्य में पाये जाने वाले पारस्परिक सम्बन्ध व प्रभाव को प्रदर्शित करने के लिए प्रख्यात समाज शास्त्री प्रो० आर०के० मुखर्जी ने इन्हें एक

दीपक की बत्ती, तेल और ज्योति कहा है। स्पष्टतः तेल (समाज) के बिना बत्ती (व्यक्ति) अधूरी है और ज्योति (मूल्यों) के बिना बत्ती (व्यक्ति) और तेल (समाज) दोनों ही अर्थहीन हैं अर्थात् अन्तिम रूप में सार्वभौमिक मानवीय मूल्य ही समाज व व्यक्ति के जीवन में ज्योति प्रज्ज्वलित करते हैं। यदि समाज अपने अस्तित्व को बनाये रखना चाहता है तो यह आवश्यक है कि व्यक्तित्व के परम या सर्वोच्च मूल्यों की नियमित रूप से पूर्ति करता रहे। व्यक्तित्व की सर्वोत्तम खोज सत्यम् शिवम् व सुन्दरम् उच्चतम आध्यात्मिक मूल्य हैं। इन्हीं सर्वोत्तम खोज के आधार पर सामाजिक सम्बन्धों व संस्थाओं की सृष्टि और पुनः सृष्टि होती है। सम्पूर्ण मानव समाज व मानव कल्याण के लिए इन मूल्यों का सम्वर्द्धन एवं

संरक्षण आवश्यक है क्योंकि जब तक व्यक्ति को सांस्कृतिक मूल्य बोधों की पहचान नहीं होगी और उन मूल्यों के पहचान के माध्यम से मनुष्य के आन्तरिक व बाह्य जगत की प्राकृतिक नियमावली और प्राकृतिक साहचर्य के साथ हम नहीं जुड़ेंगे तब तक मूल्योन्मुख समाज की कल्पना व्यर्थ है।

निष्कर्षतः

मूल्योन्मुखी शिक्षा की प्रस्तुति में हमें निर्देशात्मक नहीं होना चाहिए और अन्वेषण की विधियों को प्रोत्साहित करना चाहिए तथा सामाजिक दबाव व नियंत्रण के द्वारा मूल्यों के अवमूल्यन को रोकना चाहिए क्योंकि मूल्योन्मुख शिक्षा ही सही अर्थों में जीवन की प्रयोगशाला है एवं शिक्षा आन्तरिक तथा परिभाषात्मक रूप से मूल्योन्मुखी है। ●

मालवीय जी के हृदय में आरंभ से ही देश-सेवा और समाजोत्थान की भावना प्रबल थी। घर की गरीबी और चाचा के आग्रह से उन्होंने बी.ए. पास करने पर दो वर्ष गवर्नमेंट जिला स्कूल में अध्यापकी की और बाद में कई वर्ष तक वकालत भी की। परंतु उनका ध्यान सदा देश-सेवा, समाज सेवा और धर्म-सेवा की तरफ ही आकर्षित रहा। राजा रामपाल सिंह के निमंत्रण पर नौकरी छोड़कर 'हिन्दुस्थान' दैनिक का संपादन करने लगे। इसके बाद इलाहाबाद से निकलने वाले 'इंडियन ओपीनियन' के कार्य में सहयोग किया। तत्पश्चात् अपने साधनों से 'अभ्युदय' साप्ताहिक का प्रकाशन प्रारम्भ किया। दो वर्ष बाद मालवीय जी को प्रांतीय काउन्सिल का सदस्य बना लिया गया। अतः 'अभ्युदय' का संपादन श्री पुरुषोत्तम दास टंडन को सौंप दिया। इसके बाद उन्होंने अंग्रेजी दैनिक पत्र 'लीडर' का संपादन किया। उन्होंने लिखा है कि "देशभक्ति का संचार हमारे हृदय से स्वार्थ को निकाल कर फेंक देगा। हम अदूरदर्शी, स्वार्थी और खुशामदियों की तरह ऐसे कार्य कदापि न करें जिनसे देशवासियों को हानि पहुँचे, बल्कि दूरदर्शी, परमार्थी, सत्यशील और दृढ़ताशील आत्माओं की भाँति असंख्य कष्ट उठाते हुए भी वही करेंगे जिससे देश का भला हो, निर्धन धनवान्, निर्बल बलवान् और मूर्ख भी बुद्धिमान् हो जाए। प्रत्येक प्रकार के सामाजिक दुख मिटें और दुर्भिक्ष आदि विपत्तियाँ दूर होकर लाखों बिलबिलाती हुई आत्माओं को सुख पहुँचे। देशभक्ति द्वारा इतने धर्मों का संपादन होता हुआ देखकर भी यदि कोई धर्म के आगे देशभक्ति को कुछ नहीं समझता हो तो जान लीजिए कि वह यह नहीं जानता कि 'धर्म' क्या वस्तु है?"

महामना के ये हृदयोद्गार बतलाते हैं कि वे देशभक्ति को साधारण कर्तव्य ही नहीं वरन् एक परम धर्म मानते थे, जिसके बिना भजन, पूजा एवं मंत्र जप करना निरर्थक हो जाता है।

महामना प्रेरक प्रसंग 'खण्ड'—3

(पेज सं० 408 से)

उच्च शिक्षा में मूल्यों का संकट

विनीता उपाध्याय

“सभी कुछ हो रहा है तरक्की के इस जमाने में।
मगर यह क्या गजब है, आदमी इन्सां नहीं होता।।
जब कि दुश्वार है काम का आसान होना।
आदमी को भी मयस्सर नहीं इन्सां होना।।”

किसी सजग शायर की उपरोक्त पंक्तियाँ वर्तमान समाज में व्याप्त सबसे बड़ी समस्या—मूल्यों के संकट की ओर ध्यान आकृष्ट करती हैं। भावनाओं से रहित तर्क एवं बौद्धिकता का आधिक्य एवं मानवीय मूल्यों का हास समाज के दूषित होने का सर्वप्रमुख कारण है। आज संवेदनहीन, समाजविमुख एवं आत्मकेन्द्रित होकर व्यक्ति सामाजिक—नैतिक चेतना के अभाव में केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के प्रति ही सचेष्ट है। इस समस्या के लिए वर्तमान शैक्षिक तंत्र भी बहुत हद तक जिम्मेदार माना जा रहा है और हो भी क्यों नहीं, जबकि शिक्षा की भूमिका को प्राचीन काल से ही सार्थक व्यक्तित्व के निर्माण हेतु अपरिहार्य माना गया है। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था मानव जीवन को सम्पूर्णता की ओर न ले जाकर जटिल, कुंठित एवं कृत्रिम बना रही है। शिक्षा यदि अनास्था, विषमता एवं निरुद्देश्यता की ओर ले जाए तो उसके सर्वोच्च मूल्य स्वतः समाप्त हो जाते हैं। आज समाज Moral Leprosy से जूझ रहा है। समाज सत्य, प्रेम, शांति, संवेदनशीलता, सहिष्णुता, भातृत्व, न्याय, श्रमनिष्ठा जैसे मूल्यों से रिक्त हो चुका है। हमारी शिक्षा विभिन्न विषयों के ज्ञाता, विशेषज्ञ तो निर्मित कर रही है, परन्तु मानवीय मूल्यों से युक्त मनुष्यों का सृजन करने में असमर्थ सिद्ध हो रही है। विगत कई दशकों से शिक्षा में मूल्यों के गिरते स्तर पर चिंतन किया जा रहा है, परन्तु यह चिंतन सार्थक क्रियाओं के अभाव में महत्त्वहीन है। वर्तमान शिक्षा

शाश्वत मूल्यों के प्रति आकर्षण जागृत न करके केवल भौतिक मूल्यों की प्राप्ति का साधन बन चुकी है। वैज्ञानिकता ने हमारी बौद्धिक शक्ति तो बढ़ाई परन्तु भावशून्य होकर हम उस शक्ति का दुरुपयोग कर रहे हैं।

“न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते”

जैसी भावना के उद्गम स्थल भारत में शिक्षा को वह प्रकाश माना गया है जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रकाशित करने का सामर्थ्य रखता है। प्राचीन भारतीय संकल्पना में शिक्षा को केवल वृत्ति प्राप्ति का साधन नहीं बल्कि आध्यात्मिक अनुभूतियों के आह्वान, भौतिक समस्याओं के समाधान एवं सम्पूर्ण मनुष्य के निर्माण का सोपान माना जाता था। जैसा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कहा था :

“न विद्यया सौख्यं नराणां जायते ध्रुवम्।

अतो धर्मार्थमोक्षेभ्यो विद्याभ्यासं समाचरेत्।।”

अर्थात् विद्या के बिना मनुष्य कुण्ठाग्रस्त तथा अराजक हो जाता है। सुखी और स्वास्थ्यपूर्ण जीवन के लिए विद्या (मूल्य युक्त शिक्षा) की आवश्यकता है। विद्याभ्यास द्वारा ही धर्म और मोक्ष की प्राप्ति संभव है।

पूर्ण मानवता के स्वरूप जिसमें अधिभौतिक व आध्यात्मिकवाद का पूर्ण समन्वय, सामंजस्य एवं संतुलन हो, का स्फुटीकरण ही शिक्षा है। शिक्षा का मूल उद्देश्य उपाधियाँ प्राप्त करना नहीं, अपितु शारीरिक, बौद्धिक, भावनात्मक, नैतिक एवं आध्यात्मिक रूप से एकीकृत सम्पूर्ण मानव का विकास करना है। वह मनुष्य जिसमें वैज्ञानिक एवं सच्ची नैतिक भावनायें साथ-साथ रहती हैं। यही कारण है कि शिक्षा को समस्त मानवीय मूल्यों को आरोपित करने हेतु आवश्यक अभिकरण माना जाता है। विशेष रूप से

उच्च शिक्षा ही युवाओं को जीवन मूल्यों तथा परिप्रेक्ष्यों के प्रति समीक्षात्मक अन्वेषण की दृष्टि प्रदान करता है। वस्तुतः मूल्य शिक्षा तो उच्च शिक्षा से प्रारम्भ होकर नीचे की ओर प्रवाहित होती है क्योंकि यहीं से प्रशिक्षित युवा प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा से जुड़ते हैं। शिक्षा एवं विकास के मध्य तालमेल बैठाने के लिए भी उच्च शिक्षा की अवस्थापनाओं का ही आश्रय लिया जाता है। कहा भी गया है कि—

"If all is well with our Universities, the end is well with the nation"

प्राचीन संकल्पना यही है कि विश्वविद्यालय सुयोग्य, सच्चरित्र और मूल्यनिष्ठ नागरिकों की पौधशाला है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक महागना मालवीय जी की विद्यार्थियों के लिए यही कामना थी—

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया।

देशभक्त्यात्मत्यागेन सम्मानार्हः सदा भव॥

अर्थात् सत्य, ब्रह्मचर्य, व्यायाम, विद्या, देशभक्ति और आत्मत्याग द्वारा सदा ही सम्मान पाने योग्य बने।

मालवीय जी ने अपने विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए नैतिक प्रगति को भौतिक प्रगति से महत्त्वपूर्ण मानते हुए युवाओं के चरित्र निर्माण को ही प्रमुख उद्देश्य माना। उच्च शिक्षा में न केवल उपलब्ध ज्ञान का अध्ययन बल्कि, सृजन हो। छात्रों को विशेषज्ञता के साथ चरित्रगत मूल्यों से युक्त किया जाय, उन्हें जानकारी से समझदारी की ओर प्रवृत्त किया जाए। वह समझदारी जो उन्हें समाज, राष्ट्र एवं स्वयं के प्रति किये जाने वाले कृत्यों में जिम्मेदार और सचेत बनाये।

1947 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित नेहरू जी ने कहा था— "विश्वविद्यालय का अस्तित्व मानवतावाद

के लिए, सहिष्णुता और विवेक के लिए, विचारगत साहस तथा सत्य की खोज के लिए होता है। उसका लक्ष्य होता है कि मानव जाति और भी उच्चतर उद्देश्यों की ओर कद बढ़ाएँ"।

परन्तु क्या आज हम उच्च शिक्षा से उपर्युक्त लक्ष्यों को प्राप्त कर पा रहे हैं। जहाँ आरक्षण की राजनीति के बढ़ते कदम उच्च शिक्षा व्यवस्था की शांति भंग कर रहे हैं। वहीं शिक्षकों की संवेदनशून्यता, प्रबंधन एवं परीक्षा प्रणाली में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं कुप्रशासन अनुशासनहीनता, छात्र असंतोष एवं शिक्षा का व्यावसायीकरण इसे दूषित कर रहे हैं। नैतिक क्षयग्रस्तता से पीड़ित इस शिक्षा को प्राप्त कर युवा सफलता के लिए त्वरित मार्ग (Short Cut) को महत्त्व दे रहे हैं। मूल्यों से समझौता कर वांछित लक्ष्यों को अवांछनीय साधनों के माध्यम से प्राप्त करने में तनिक संकोच नहीं करते। सरोकारहीनता, स्वकेन्द्रियता, कृत्रिमता आज उच्चशिक्षा का उत्पाद बन चुके हैं। उच्च शिक्षा केवल ज्ञान प्रदान कर रही है, वह बुद्धि नहीं जो दूसरों के प्रति संवेदनशील, सतर्क एवं सजग बनाये। इस बुद्धि से विरत ज्ञान बहुत ही खतरनाक हो सकता है और संसार की अनेक समस्याओं के लिए सम्भवतः यही संवेदनाशून्य ज्ञान जिम्मेदार है चाहे वह बढ़ती हुई हिंसक घटनाएं, नैतिक स्तर की गिरावट या पर्यावरण असंतुलन का क्षेत्र ही क्यों न हो। आज उच्च शैक्षिक व्यवस्था में छात्र शिक्षा प्रक्रिया का भागीदार एवं प्रतिभागी नहीं वरन् उपभोक्ता बन चुका है। शिक्षा सहनशीलता, शांति, संवेदनशीलता के मूल्यों को नहीं सिखा रही है। विश्वविद्यालय बौद्धिक उन्नति एवं सामाजिक विकास के लिए कम, अर्थहीन उपाधियों, तुच्छ राजनीति और अराजकता स्थल के रूप में अधिक जाने जाते हैं। शिक्षा

के गिरते हुए स्तर के लिए किसी एक घटक को जिम्मेदार ठहराना खंडित दृष्टिकोण होगा। वस्तुतः जीवन मूल्यों में गिरावट ही शिक्षा स्तर में गिरावट है। आज शिक्षा के प्रमुख स्तम्भ शिक्षक हों या शैक्षिक प्रशासन, प्रबंधन, पाठ्यचर्या या परीक्षा प्रणाली, सभी में विकृति आ चुकी है। शिक्षक शिक्षा की धुरी होते हैं एवं कितना भी अतिरिक्त संसाधनों की प्रचुरता कर दी जाये, यदि शिक्षक अयोग्य है तो शिक्षा की अपेक्षित परिणामों की प्राप्ति असम्भव है। आज उच्च शैक्षिक पदों की शोभा बढ़ाने वाले हमारे शिक्षकों में मूल्यनिष्ठता की कमी छात्रों को कुंठित और उद्वेलित करती है। एक शिक्षक के तौर पर वे छात्रों को उस प्रेरणा को देने में असमर्थ हैं, जो उनसे अपेक्षित हैं; प्रेरणा—समाज की एक उपयोगी इकाई एवं सही अर्थों में इंसान बनने की। माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952-53) के अनुसार “उस शिक्षा का कोई लाभ नहीं जो अपने साथी नागरिकों के साथ शालीनता, सामंजस्य, कार्यकुशलता के साथ जीने की शैली के लिए आवश्यक गुणों को पोषित न करती हो”

शिक्षकों को उन्हीं तथाकथित दूषित व्याधियों, जिनका निरोध हमारी भारतीय शिक्षा पद्धति की सर्वोच्च प्राथमिकता है, से ग्रसित देखकर शिक्षा एवं शिक्षकों के प्रति सहज आस्था पर ठेस पहुँचती है। मूल्य रहित शिक्षकों से मूल्यनिष्ठ छात्रों का सृजन का विचार ही असंगत है। वह स्वयं उस संवेदना एवं प्रज्ञान से अपर्याप्त है जो कि मूल्यनिष्ठ छात्रों के निर्माण हेतु आवश्यक है।

साथ ही साथ उच्च शिक्षा के कार्य प्रणाली व प्रबंध में आये व्यवसायिकता एवं भ्रष्टाचार ने इसे एक उत्पाद या सेवा की भाँति विपणन योग्य वस्तु बना दिया है। एक अध्ययन के अनुसार छात्रों के विश्वविद्यालय में प्रवेश करने से लेकर वहाँ से शिक्षा प्राप्त कर निकलने तक उनके मूल्यों में गिरावट

आती है। यह बात चिंतनीय व विचार योग्य है कि ऐसे कौन से कारण हैं जो इसके लिए उत्तरदायी होते हैं। सरकार एवं प्रशासन की उदासीनता, शिक्षक, कर्मचारियों एवं छात्रों की राजनीति भी इस समस्या को बढ़ा रही है। विशेष रूप से शिक्षकों की राजनीति विश्वविद्यालयों के स्वास्थ्य के लिए ज्यादा नुकसान देह है। अगर शिक्षकों में मूल्य केन्द्रित एकता, विद्या के प्रति सच्चा अनुराग और आचरण की दृढ़ता हो तो छात्र जैसे भी हो असंयमित एवं अविनयी नहीं हो सकते हैं। साथ ही विश्वविद्यालय की बदहाली के लिए कुलपति जैसे गरिमामय और अकादमिक उत्कृष्टता वाले पद पर अयोग्य एवं अनैतिक व्यक्तियों की नियुक्ति भी एक मुख्य कारण है।

अन्ततः यदि हम उच्च शिक्षा के माध्यम से युवाशक्ति में शाश्वत मूल्यों को आरोपित करना चाहते हैं तो एक ऐसे वातावरण का सृजन करना पड़ेगा जो समस्त शैक्षिक घटकों में मूल्यों को स्थापित करे। विशेष रूप से शिक्षकों को नैतिक एवं सामाजिक रूप से ज्यादा दायित्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी। उन्हें एक समाज सुधारक (Social reformer) के रूप में कार्य करना होगा। विश्वविद्यालय से राजनीति को समाप्त कर उसके मूल चरित्र की रक्षा करनी होगी। ताकि वह अपने स्थापना के शाश्वत लक्ष्यों को प्राप्ति हेतु रचनात्मक तरीके से कार्य कर सके। शिक्षा प्रक्रिया का पूरा जोर व्यक्ति को मनुष्य बनाने पर हो न कि, केवल संसाधन। प्रकृति को सहचर बनाये न कि विजेता। मनुष्य सर्वाधिक चैतन्यता से युक्त है इसलिए यह दायित्व भी उसी पर है कि वे किस प्रकार इस चैतन्य का सहभागी सबको बनाये। केवल भोक्ता नहीं अपितु सहभोक्ता की शिक्षा देने से ही उन प्राचीन मूल्यों की स्थापना हमारे उच्च शिक्षा में हो सकती है, जिन्होंने हमें विश्व गुरु बनाया था। ●

अधिकार, कर्तव्य और सद्गुण

डॉ० अर्चना

जो हमें करना चाहिए, वही हमारा कर्तव्य है। अतः हम कर्तव्य से बंधकर कार्य करते हैं। यदि हम इसका विश्लेषण करें तो पायेंगे कि यह एक नैतिक ऋण है जो कि हमें चुकाना है। यह कर्तव्य ऋण सर्वप्रथम स्वयं के प्रति होता है और अन्य व्यक्तियों के प्रति भी होता है। जो कर्तव्य हम अन्य व्यक्तियों के प्रति करते हैं वही उनकी हमसे मांग है। पर इन मांगों का तर्क संगत और न्याय संगत होना आवश्यक है। उसे प्राप्त करना उनका अधिकार है। इसे ही अधिकार कहते हैं। अतः अधिकार नैतिक मांग हैं। जो हमारा अन्य के प्रति कर्तव्य है वही उनका अधिकार है और इसी तरह जो उनका कर्तव्य है वह हमारा अधिकार है। अधिकार और कर्तव्य सापेक्ष है।

कुछ विचारकों ने वैधानिक और नैतिक अधिकारों में अन्तर बताया है। समाज द्वारा स्वीकृत प्रत्येक व्यक्ति का अन्य लोगों पर अधिकार ही नैतिक अधिकार है। एक व्यक्ति का अन्य लोगों के ऊपर राज्य से मान्य अधिकार है। अतः वैधानिक अधिकार का नैतिक अधिकारों की तुलना में अधिक सुनिश्चित निर्धारण हो सकता है। वैधानिक अधिकार लिखित होते हैं और उनकी परिभाषा और व्याख्या परम्परागत और पूर्वमान्यता के आधार पर ही की जाती है लेकिन नैतिक और वैधानिक अधिकारों में सामंजस्य होता है। वैधानिक अधिकार नैतिक अधिकारों पर ही आधारित होते हैं।

समाज में रहते हुए एक सामाजिक व्यक्ति के अधिकार समाज से अलग नहीं हो सकते। समाज ही उसे अधिकार प्रदान करता है। सामाजिक जनमत ही अधिकारों की रक्षा करता है। सामाजिक तथा वैयक्तिक हितों के लिए ही अधिकार और

कर्तव्य हैं। इस प्रकार अधिकार और कर्तव्य हमेशा से ही समाज के अंग हैं।

समाज में रहते हुए भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के संबंध विभिन्न होते हैं। अतः व्यक्ति के अधिकार और कर्तव्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। कुछ विचारकों ने नैतिक अधिकारों की अस्पष्टता की ओर ध्यान देते हुए प्राकृतिक अधिकारों के बारे में अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं। इनके अनुसार प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति के स्वभाव पर आधारित हैं अतः नैतिक और प्राकृतिक अधिकारों में भी सामंजस्य है।

यदि हम व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों पर नजर डालें तो हम पाते हैं कि इन अधिकारों के पांच प्रकार हैं : इनमें व्यक्ति को पहला अधिकार जीने का अधिकार है, दूसरा स्वतन्त्रता का अधिकार, तीसरा सम्पत्ति का अधिकार, चौथा समझौते का अधिकार और पाँचवां शिक्षा का अधिकार है।

सबसे मौलिक और सामान्य अधिकार दो हैं और वे हैं आत्म विकास और आत्मरक्षा। स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, समझौता और शिक्षा आत्म विकास के ही माध्यम हैं।

मनुष्य के अधिकारों और कर्तव्यों के पारस्परिक संबंध हैं, जिस प्रकार व्यक्ति के निश्चित अधिकार हैं, तो उसी प्रकार उनके कर्तव्य भी हैं। कुछ विचारकों ने अधिकारों की तरह वैधानिक, प्राकृतिक और नैतिक कर्तव्यों में अन्तर बताया है। एक व्यक्ति के क्या-क्या कर्तव्य होने चाहिए या होते हैं जरा इन पर भी एक नजर डाल लेते हैं। व्यक्ति को जीवन का सम्मान, स्वतन्त्रता का सम्मान, सम्पत्ति का सम्मान, चरित्र का सम्मान, सत्य का सम्मान, सामाजिक व्यवस्था का सम्मान तथा प्रकृति का सम्मान करना चाहिए।

बुद्धिमय आत्मा की सिद्धि और उसके अन्तर्गत आने वाले सभी प्रकार के मूल्यों की सिद्धि ही एक व्यक्ति का सर्वोच्च कर्तव्य है। सभी कर्तव्य इसी का परिणाम हैं। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्धारण कैसे और कितने प्रकार से किया जा सकता है? इसका उत्तर यह हो सकता है कि पहला व्यक्ति का स्वयं के प्रति कर्तव्य होता है, दूसरा अन्य के प्रति कर्तव्य, तीसरा ईश्वर के प्रति कर्तव्य आता है।

इन कर्तव्यों के अभ्यास के द्वारा सदगु-

णात्मक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं इसीलिए कर्तव्यों का आचरण और कर्तव्यों का ज्ञान दोनों ही आवश्यक हैं। अरस्तू की मान्यता है कि सदगुण अभ्यास है और सुकरात की धारणा है कि सदगुण ज्ञान है। और ये दोनों ही मान्यताएँ सत्य प्रतीत होती हैं। यदि हम विवेक और वासनाओं में सामंजस्य रखें तो कर्तव्यों का संपादन हो सकता है। और इससे ही वास्तविक आनन्द की अनुभूति होती है। बुद्धिमत्ता, साहस, संयम और न्याय इन चारों को प्लेटो ने मुख्य सदगुण बताया है। ●

“नैतिक और धार्मिक पाठ्य-पुस्तकें पढ़ाकर लड़कों को नैतिक और धार्मिक बनाने का प्रयास करना मिथ्याभिमान और भ्रम है, ठीक इसलिए कि हृदय मस्तिष्क नहीं है और मस्तिष्क को शिक्षित करने से यह आवश्यक नहीं कि हृदय सुधर जाए।... नैतिक पाठ्य-पुस्तकों से खतरा यह है कि वे ऊँची बातों के विषय में सोचने की प्रक्रिया को यंत्रवत् और बनावटी बना देती हैं और जो वस्तु यंत्रवत् और बनावटी बन जाती है वह हमेशा के लिए निष्क्रिय बन जाती है।...

आप बच्चों पर थोड़ा बहुत अनुशासन थोप सकते हैं, पहना-उढ़ाकर एक सांचे में ढाल सकते हैं, प्रताड़ना देकर इच्छित मार्ग पर चला भी सकते हैं, किंतु जब तक आप उनके हृदयों और स्वभावों को अपने पक्ष में नहीं कर लेते तब तक इस थोपे हुए शासन का अनुपालन मिथ्याचारी और हृदयहीन ही बना रहेगा, एक रस्मी और प्रायः कायरतापूर्ण अनुपालन।...

नैतिक प्रशिक्षण का पहला नियम है सुझाना और आमंत्रित करना, आदेश देना और थोपना नहीं। सुझाव की उत्तम विधि है, व्यक्तिगत उदाहरण द्वारा, रोज की बातचीत और दिन-प्रतिदिन पुस्तकों से पठन। इन पुस्तकों में छोटे विद्यार्थियों के लिए अतीत के ऊँचे उदाहरण दिये हुए होने चाहिए, नैतिक उपदेशों के रूप में नहीं, बल्कि उत्कृष्ट मानवीय हित की वस्तुओं के रूप में, और बड़े विद्यार्थियों के लिए महान आत्माओं के महान विचार, साहित्य के ऐसे उद्धरण जो उत्कृष्ट भावनाओं को प्रदीप्त करें और ऊँचे से ऊँचे आदर्शों और महत्वाकांक्षाओं को प्रेरित करें, इतिहास और जीवन चरित के ऐसे अभिलेख जो उन महान विचारों, उदात्त भावनाओं और महत्वाकांक्षी आदर्शों को जीवन में उतारने का उदाहरण प्रस्तुत करें। यह एक प्रकार की अच्छी संगत, सत्संग है, जो अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती जब तक कि जबरदस्ती की उपदेशबाजी न की जाए, और यदि शिक्षक का अपना व्यक्तिगत जीवन भी उन्हीं महान बातों के द्वारा ढाला गया हो जिन्हें वह अपने विद्यार्थियों के सामने प्रस्तुत करता है तो उसका और भी उत्कृष्ट प्रभाव पड़ता है। तो भी जब तक युवा जीवन को अपने सीमित दायरे के भीतर अंतर में उठनेवाले नैतिक मनोवेगों को कार्यरूप में प्ररिणत करने का अवसर नहीं दिया जाएगा तब तक वह पूरा जोर नहीं पकड़ पायेगा।”

श्री अरविन्द

वर्तमान शिक्षा प्रणाली कितनी सार्थक?

डॉ० पुष्पा देवी

अनुभव के अनवरत पुनर्रचना द्वारा कालजयी रहने की प्रक्रिया है— शिक्षा। यह सोद्देश्य एवं संचेतन क्रिया है, जो विद्यार्थी की उन समस्त शक्तियों का विकास है जो उसे अपनी आवश्यकताओं, संभावनाओं की पूर्ति और वातावरण को नियंत्रित करने की योग्यता प्रदान करती है। उसके अन्दर अच्छाई-बुराई में अन्तर परखने की क्षमता पैदा करती है।

पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री जॉन ड्यूवी ने शिक्षा के संदर्भ में जो विचार व्यक्त किया है उससे तो स्पष्ट पता चलता है कि, विद्यार्थी कुछ नैसर्गिक मूल शक्तियों, प्रवृत्तियों या गुणों को साथ लेकर जन्मता है।

प्रख्यात विचारक पेस्टालॉजी ने शिक्षा के अभिप्राय को व्यक्त करते हुए लिखा है कि “शिक्षा बालक की आन्तरिक शक्तियों का स्वभाविक और प्रगतिशील विकास है।” इस परिभाषा में बालक के व्यक्तित्व के चतुर्दिक एवं संतुलित विकास पर बल दिया गया है।

राष्ट्रपिता मोहनदास करमचन्द्र गांधी ने स्वतंत्र भारत की शिक्षा व्यवस्था की दिशा में बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों के फलस्वरूप प्राप्त अनुभवों के आधार पर कहा था, “शिक्षा से मेरा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जो बालक और मनुष्य के शरीर, मन तथा आत्मा के रूपों का उत्कृष्ट एवं सर्वांगीण विकास करे।”

जहाँ तक मैं समझती हूँ कि यदि इन परिभाषाओं की व्याख्या करें तो यही साबित होता है कि बालक के वैयक्तिक मूल्यों के विकास के साथ-साथ उसके सामाजिक मूल्यों का भी विकास किया जाना चाहिए। उसके अन्दर उन सभी गुणों

का समावेश होना चाहिए जो उसे ‘सम्पूर्ण मानव’ बना सकें, जिसमें अमानवीय मूल्यों का कोई भी स्थान न रहे।

स्वतंत्रता के बाद शिक्षा का जितना प्रचार-प्रसार हुआ उतना न तो वैयक्तिक ‘स्व’ के उत्तमोत्तम गुणों का विकास हुआ और न तो सामाजिक ‘स्व’ के गुणों का ही विकास हो सका। व्यक्ति केवल आत्मलाभ के लिए शिक्षा प्राप्त करने लगा। सामाजिक प्राणि होने के नाते समाजहित के लिए अपने दायित्व को निभाना भूल गया। आज बालकों को कुछ इस तरह शिक्षा प्रदान की जा रही है कि उसका व्यक्तित्व सत्ता के सामने झुका रहे, पूँजीवाद के सामने घुँटने टेकता रहे और दूसरों की इच्छानुसार चलने की आदत डाले। सच पूछा जाए तो आज भी हमारी शिक्षा व्यवस्था “लार्ड मैकाले” कि मानसिकता से उबर नहीं सकी है।

आज देश में विषमताएं उग्र रूप धारण करती जा रहीं हैं। विश्वविद्यालय राष्ट्रीय जीवन तथा समाज के आलोचनात्मक व पक्षपात पूर्ण मूल्यांकन के केन्द्र बनते जा रहे हैं। पं. जवाहरलाल नेहरू के अनुसार— “शिक्षा का उद्देश्य मानवीयता, सहिष्णुता, विवेक जैसे गुणों का विकास कर गूढ़ विचारों के सागर में डूबकर सत्य संसाधन करना है।”

डॉ. राधाकृष्णन आयोग ने लिखा है कि, “देश को राजनीति, प्रशासन, व्यवस्था, व्यवसाय, उद्योग और वाणिज्य के क्षेत्रों को नेतृत्व प्रदान करना और देश को वैज्ञानिक और तकनीकी विकास द्वारा अभाव और रोग तथा अज्ञानता से शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति दिलाना विश्वविद्यालयों का दायित्व है”।

शिक्षित व्यक्ति को अपने अधिकारों व कर्तव्यों

का पूर्णरूपेण बोध होता है तथा वह नए समाज के गठन में एक रचनात्मक भूमिका का निर्वाह करने में सक्षम होता है।

शिक्षा का उद्देश्य केवल पुस्तक ज्ञान प्राप्त करना ही नहीं बल्कि बालकों का सर्वांगीण विकास करना भी है। उनके मन में पारिवारिक तथा सामाजिक वातावरण पैदा करना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। शिक्षक को अपने दायित्वों के प्रति सदैव जागरूक रहना चाहिए और समाज के सामने आदर्शमय आचरण का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए। तभी समाज एवं देश का कल्याण हो सकता है। किन्तु सच्चाई यह है कि हमारे देश में शिक्षा के स्तर में गिरावट आयी है। हर एक स्तर पर शिक्षा का विस्तार तो हुआ है लेकिन गुणवत्ता की दृष्टि से देखा जाय तो ह्रास हुआ है। हमारे देश में शिक्षा का विकास शहरी क्षेत्र से बढ़कर ग्राम्यांचल तक पहुँच गया है और उच्च शिक्षा जिनकी पहुँच के बाहर थी आज वही उच्च शिक्षा उनके दरवाजे तक पहुँच चुकी है, लेकिन हमारे देश की शिक्षा स्वतंत्रता के बाद भी अंग्रेजी हुकूमत के सुचारु रूप से संचालन हेतु वफादार शिक्षित नौकर तैयार करने के उद्देश्य से बनायी गई 'मैकाले शिक्षा प्रणाली' पर आधारित है। देश से अंग्रेजों को निकाल देने के बाद भी उनकी अंग्रेजियत को आत्मसात करते रहना कहाँ की समझदारी है?

गुलाम जनता के लिए बनायी गयी शिक्षा प्रणाली स्वतंत्र भारत के स्वाभिमान, संस्कार और विकास के विपरीत साबित हो रही है। अनेक मनः स्थितियों के व्यक्तित्वों विविध टीका टिप्पणियों के मध्य मैकाले द्वारा बनायी गयी शिक्षा नीति मामूली परिवर्तनों के साथ आज भी गतिशील है।

ऐसी बात नहीं है कि सभी इस वर्तमान अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन नहीं चाहते। एक सामान्य नागरिक से लेकर राष्ट्रपति तक शिक्षा में

परिवर्तन की आवश्यकता महसूस करते हैं तथा परिवर्तन की बातें भी करते हैं, किन्तु कुछ पुस्तकों को बदल देने से या शिक्षामंत्री, शिक्षासचिव एवं शिक्षा संचालक के रुचि के अनुरूप कुछ नये प्रयोग कर लेने मात्र से कुछ बनता नजर नहीं आता। जब तक वर्तमान शिक्षा का मूल ढाँचा नहीं बदला जाएगा तब तक उससे उत्पन्न होने वाली समस्याओं का वास्तविक निराकरण हो पाना सम्भव नहीं है।

वर्तमान शिक्षा का जो प्रारूप है वह हमारे देश के लिए अरक्षित और अशुभ है। इस शिक्षा प्रणाली से भारत में शिक्षित बेरोजगारों की एक विशाल सेना खड़ी होती जा रही है। शिक्षा का चार वर्गों में बँटवारा हो गया है। पूँजीपतियों, उच्चधिकारियों एवं नेताओं के बच्चे कान्वेन्टी शिक्षा प्राप्त करके नौकरी के लिए विदेशों में चले जा रहे हैं या अपने देश में ऊँचें पदों पर आसीन हो जा रहे हैं और साधारण स्कूलों से प्राप्त शिक्षित युवकों को क्लर्क, चपरासी के रूप में कार्यरत होने से उनसे नफरत करते हैं और उनका शोषण करते हैं। मदरसों में पढ़ने वालों का भी कोई स्कोप नहीं है, बल्कि साम्प्रदायिक द्वेष या शिक्षा के आधार पर देश का बँटवारा होता जा रहा है। सच पूछा जाय तो ये शिक्षित, वर्तमान से असंतुष्ट और भविष्य के प्रति आशंकित हैं। उपाधियों को गले में लटकाकर ये बेरोजगार आन्दोलनों, धरनों और प्रदर्शनों के माध्यम से अपने आक्रोश को असफल अंजाम दे रहे हैं।

हमारे देश की दोहरी शिक्षा नीति ने समाज को आर्थिक और धार्मिक दृष्टि से टुकड़ों में बाँट दिया है। जनमानस राष्ट्रधर्म से अधिक महत्त्व व्यक्तिगत धर्म को देने लगा है। राष्ट्रीय सम्पदा को अपनी सम्पत्ति मानने का भाव प्रायः समाप्त हो गया है। व्यक्ति अपने द्वारा गलत या सही तरीके से अर्जित सम्पत्ति को ही अपनी सम्पत्ति मानकर उनकी सुरक्षा करता है। बस, ट्रेन, विद्यालय, चिकित्सालय

आदि सार्वजनिक क्षेत्र से जुड़ी वस्तुओं की क्षति को देखकर उन्हें कष्ट नहीं होता। यही है— मैकाले जन्य आधुनिक शिक्षा प्रणाली जो युवकों में, देश के नागरिकों में, असमानता को जन्म दे रही है। इससे समानता की कल्पना कैसे की जा सकती है? यही कारण है कि ऊँच—नीच, धर्म—सम्प्रदाय, भाषा—प्रान्त, जात—पात की जड़ें मजबूत और मजबूत होती जा रही हैं।

शिक्षा की यही नीति छात्र समुदाय को आत्मनिर्भरता के रास्ते से हटाकर पराश्रयिता की दिशा में ले जा रही है। विद्यार्थी अध्ययन काल तक जीवन की समस्याओं के प्रति पूर्ण उदासीन रहता है। अपनी शिक्षा, भोजन, वस्त्र, मनोरंजन आदि का सारा खर्च वह अभिभावकों से साधिकार मांगता है और बिना परिश्रम से प्राप्त पैसे की कीमत से अनभिज्ञ होकर, मनमाने ढंग से खर्च करता है। अध्ययन में भी परिश्रम न करना पड़े, अतः वह अध्यापक से नोट्स चाहता है। इसी डिगे हुए आत्मविश्वास के बीच वह अपने जीवन का स्वर्णिम समय गंवा बैठता है। जबकि प्राचीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का विद्यार्थी समाज, आज की भाँति राष्ट्रीय उत्पादन का भोग करता हुआ अपने अभिभावक, समाज और राष्ट्र पर भार स्वरूप नहीं होता था।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली समाज को उद्देश्य हीनता की स्थिति में लाने के कारण अनुपयोगी है। आधुनिक शिक्षा ने शिक्षित युवकों को 'कागजजीवी' बना दिया है। शिक्षार्थी धरती से नहीं बल्कि कागज से प्रेम करता है, जबकि उनके मन में मिट्टी से अनुराग होना चाहिए।

वर्तमान 'कान्वेन्टी शिक्षा प्रणाली' भारतीय संस्कृति और सभ्यता को मिटाने की विदेशी साजिश ही तो है। इस प्रगतिशील युग में शिक्षा का व्यवसायीकरण होता जा रहा है। इस प्रवृत्ति से, अंग्रेजी की दुकान खोलने को होड़ सी लगी हुई है। दौलत की

अंधी दौड़ ने अंग्रेजियत के दिवानेपन को और ऊँचाई पर लाकर खड़ा कर दिया है। व्यक्ति की प्रगति और समाज की उन्नति का मापदण्ड अंग्रेजियत से आँका जाने लगा। आज देश के हर शहर में आधुनिक "सेन्ट" देखने को मिल जायेंगे जो प्रत्येक गली—मुहल्ले में, 'मिनी इंग्लिस्तान' बनाने में दिलोंजान से लगे हैं। 'मान्टेसरी शिक्षा प्रणाली' के अन्तर्गत 'मिनी इंग्लिस्तान' बनाने की खुली छूट से भारतीय संस्कृति, हिन्दी और हिन्दुस्तान का भला कैसे हो सकता है? इस तरह देश की भावी पीढ़ी मानसिक रूप से गुलाम होती जा रही है, साथ ही हमारी संस्कृति मिटती नजर आ रही है।

आज हमारे देश के बजट का एक बड़ा अंश शिक्षा पर खर्च हो रहा है। ऐसी सूरत में शिक्षाशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों, बुद्धजीवियों और नीतिनिर्धारकों का यह कर्तव्य बनता है कि वे भारत जैसे अध्यात्मिक देश के मानस का अध्ययन करके ऐसी शिक्षानीति विकसित करें जो, नागरिकों की अन्तर्शक्ति को जागृत और विकसित करने में कारगर सिद्ध हो।

शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसमें मनुष्य के अज्ञान, कुसंस्कार और पराश्रयिता से मुक्त करने की अटूट क्षमता हो। शिक्षा से जुड़ी परीक्षा प्रणाली ऐसी हो जो "छात्र कितना लिख सकता है, कितना रट सकता है" इसका परीक्षण न करके इस बात का परीक्षण करे कि छात्र के शुभसंस्कार किस सीमा तक विकसित हुए हैं, छात्र ने कितना अर्जित किया है और अपने अर्जित ज्ञान का कितना सदुपयोग कर सकेगा। अन्यथा देश में कागजी उपाधिधारी शिक्षित बेरोजगारों की विशाल कतारें खड़ी हो जायेंगी, जिससे देश एवं समाज का कल्याण कदापि नहीं हो सकता। ●

स्त्री के सामाजिक उत्थान में महात्मा गांधी की प्रासंगिकता

रिकी कुमारी

समस्त विश्व के धरातल पर स्त्री का एक विशिष्ट स्थान है। नारी समाज की धुरी है जिसके बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। सभ्यता के इतिहास में मातृसत्तात्मक समाज की झलक मिलती है, परन्तु स्त्री के उत्कर्ष और अपकर्ष ने पितृसत्तात्मक समाज की नींव रखी, जिससे स्त्री की स्थिति में गिरावट आने लगी। सामाजिक वातावरण, परिस्थिति, स्वामित्व सम्बन्धी अधिकार स्त्री के सामाजिक रूप में पतन का कारक बना। परन्तु स्त्रीवादी विमर्श ने समाज, विज्ञान एवं साहित्य की सभी विधाओं में प्रस्थापित मूल्यों को चुनौती देना प्रारम्भ कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप स्त्री को पुरुष के समकक्ष सामाजिक अधिकार और समानता दिलाने का प्रयत्न किया जाने लगा। स्त्री को परम्परागत सामाजिक पराधीनता से मुक्ति प्रदान करने के लिए हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने वेश्यावृत्ति, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, स्त्री शिक्षा, दहेज-प्रथा, पर्दा-प्रथा, भ्रूण-हत्या जैसी सामाजिक समस्याओं का निदान करने में अपने जीवन का बहुमूल्य योगदान दिया। सामाजिक स्तर की प्रगति के ऊँचे पायदान पर खड़े होकर भी आज स्त्री सशक्तिकरण की बात करने वाले में वह आत्मविश्वास नहीं झलकता, जो स्त्री को सामाजिक स्तर पर समुचित सम्मान दिला सके। अतः आवश्यकता इस बात की है कि महात्मा गांधी के विचारों को अपनाकर स्त्री को परम्परागत पराधीनता से मुक्ति प्रदान की जाए।

गांधीजी ने उन रूढ़ियों और कानूनों का विरोध किया, जिसको बनाने में स्त्री का कोई हाथ नहीं था, परन्तु जिसके जुल्मों ने नारी को लगातार कुचला है। समाज के विविध दोषों में रूढ़िवाद और परम्पराप्रियता, अनेक दोषों का मूल रूढ़ियाँ, बड़ी

कठिनाई से टूट पाती हैं, क्योंकि सामान्यजन में परम्पराओं के प्रति एक विशेष मोह होता है। एक युग में जो गुण होते हैं, वे अन्य युग में रूढ़ि-रीति बनकर बंधन हो जाते हैं, जो मानव समाज की गति अवरुद्ध कर देते हैं। भारत वर्ष में भी यही हुआ। गांधी जी ने सामाजिक आचार-विचार के इन नियमों को स्त्रियोन्मुख करने के लिए आवश्यक माना, जिससे स्त्रियाँ सामाजिक जीवन में अपना सहयोग प्रदान करके राष्ट्र निर्माता बन सकें।

विवाह जीवन का एक पवित्र संस्कार है। गृहस्थ आश्रम सभी आश्रमों का मूल एवं आधार स्तम्भ माना गया है। परन्तु वर्तमान में इसकी पवित्रता का पतन होने लगा है। विवाह-विच्छेद, बहु-विवाह ने विवाह की एकनिष्ठता की मर्यादा का हनन किया है। इन सभी कठिनाइयों से उभरने के लिए गांधी जी के वैवाहिक ब्रह्मचर्य का अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है, जिससे विवाह जैसे पवित्र संस्कार को मर्यादित रख कर एकनिष्ठता का पालन किया जा सकता है। स्त्री के सामाजिक उत्थान के लिए गांधी जी के वैवाहिक ब्रह्मचर्य-व्रत को विशेष महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। इस प्रकार के संयमित वैवाहिक जीवन द्वारा स्त्रियाँ अपना सम्पूर्ण जीवन सामाजिक-सेवा में अर्पित कर सकेंगीं। हमारे इतिहास में ऐसी अनेक स्त्रियों के उदाहरण उपस्थित हैं, जिन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करके अपना सम्पूर्ण जीवन समाज सेवा में लगा दिया। गांधी जी ने स्त्री को एक नैतिक चेतना और आध्यात्मिक मुक्ति के मार्ग के रूप में प्रस्तुत किया। गांधी जी के शब्दों में—

“यदि स्त्रियाँ यह भूल जाएँ कि वे पुरुषों के भोग-विलास की वस्तु हैं और यदि वे अपने

अन्दर के अपार प्रेम के माध्यम से सम्पूर्ण मानवता पर छा जायें तो फिर वे मातृ, धातृ एवं निर्मातृ-रूप धारण कर सकती हैं।”

गांधी जी स्त्री-पुरुष की समानता के पक्षधर थे। उन्होंने पितृसत्तात्मक समाज को चुनौती देते हुए कहा कि—

“बाहरी आक्रमणों से राष्ट्र की प्रतिरक्षा करने में जितना त्याग और पुरुषार्थ चाहिए, परिवार को सुव्यवस्थित और सुनियोजित रखने में भी उतना ही आत्मत्याग एवं पुरुषार्थ अपेक्षित है।”

इस प्रकार एक दूसरे के मार्ग का बाधक न बनकर स्त्री-पुरुष मन, वचन और कर्म से एक दूसरे का सहयोग करें। वैवाहिक जीवन की मर्यादा और नैतिकता को बनाये रखने के लिए परस्पर प्रेम, आकर्षण, आध्यात्मिक उन्नति, सहयोग, मित्रवत् व्यवहार, परस्पर कर्तव्यों का निर्वाह, समाज सेवा, कौटुम्बिक सुविधा आवश्यक है।

विवाह जहां एक सामाजिक संस्कार है, वहीं बाल-विवाह को सामाजिक कलंक और स्त्री के मार्ग की प्रमुख बाधा माना गया है। छोटी उम्र में विवाह होने से स्त्रियों में शारीरिक दुर्बलता आ जाती है। कम उम्र में हुआ विवाह समूची पीढ़ी को निर्बल एवं रुग्ण बना देता है। इसके साथ ही राष्ट्र की भौतिक शक्ति का ह्रास होता है, जिसके कारण राष्ट्र की प्रगति एवं विकास अवरुद्ध हो जाता है। यही कारण था कि गांधी जी ने उन मान्यताओं को टुकरा दिया जो धर्म की दुहाई देकर बाल-विवाह को स्वीकार करते थे। गांधी जी के शब्दों में—

‘एक पाश्विक प्रथा में धर्म से पुष्टि करना धर्म नहीं अधर्म है। स्मृतियों में परस्पर विरोधी वाक्य भरे पड़े हैं। इन विरोधों पर तो इत्मीनान के काबिल यही एक नतीजा निकल सकता है कि उन वाक्यों को, जो प्रचलित हैं। लिखित नीति के और खासकर स्मृतियों में ही लिखित आदेशों के विपरीत

हैं, झोपक समझकर छोड़ दिया जाये।’

मध्य काल में मुगलों के आक्रमण के समय अपनी कन्याओं के शील की रक्षा करने के लिए बाल-विवाह का प्रारम्भ हुआ था, परन्तु वर्तमान आधुनिक शिक्षित समाज में इसका कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता है। फिर भी धर्म और परम्परा के नाम पर आज भी अक्षय तृतीया को राजस्थान व अन्य स्थानों पर सामूहिक बाल-विवाह का आयोजन करके ठाकुरजी के समान छोटी-छोटी बालाओं को आभूषणों से सजाकर उनका विवाह नहीं, अपितु शारीरिक और मानसिक शोषण किया जाता है। साधारणतया 18 वर्ष से कम उम्र की लड़की का विवाह कभी किया ही नहीं जाना चाहिए, तभी स्त्री का सामाजिक विकास सम्भव है, अन्यथा नहीं।

गांधी जी ने समाज के सम्मुख सीता, सावित्री एवं दमयन्ती जैसी पवित्र स्त्रियों का आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया, जिन्होंने त्याग, दृढ़ता और सहनशीलता के बल पर असत्य, शोषण और अत्याचार को अस्वीकार कर दिया। वर्तमान में स्त्रियों को भी अपने स्त्रियों से प्रेरणा लेनी चाहिए और अपने अधिकारों की प्राप्ति हेतु अथक प्रयासरत रहना चाहिए, तभी वे समाज की नैतिक शक्ति के रूप में मार्ग-दर्शन का कार्य कर सकती हैं। समाज में नारी की सारी विषमता का कारक भौतिकवाद है। पति-पत्नी का संबंध-विच्छेद भी इसी कारण होता है। भौतिकवाद से प्रभावित व्यक्ति केवल आत्म-सुख चाहता है, वह दूसरों के सुख की चिन्ता नहीं करता। परिणाम स्वरूप संघर्ष स्वाभाविक हो जाता है। इसका प्रमुख उदाहरण दहेज प्रथा वेश्यावृत्ति और भ्रूण-हत्या के रूप में दिया जा सकता है।

दहेज-प्रथा के संबंध में गांधी जी का मानना है कि ‘पैसे के लालच में किया गया विवाह, विवाह नहीं है, अपितु एक नीच कार्य है।’ अपनी ही जाति के संकुचित दायरे में विवाह-योग्य वर की

तलाश के कारण ही दहेज का अस्तित्व बना हुआ है। इस पर अंकुश लगाने की दृष्टि से अन्तर्जातीय विवाह कारगर सिद्ध हो सकते हैं। ऐसा मानते हुए महात्मा गांधी जी ने सम्मिश्र विवाह की जोरदार हिमायत की। पिता द्वारा कन्या को बेचना गलत है ही किन्तु—वर के पिता का दहेज लेना नीयत की पराकाष्ठा है। यह विवाह नहीं अपितु एक निकृष्ट सौदा है। गांधी जी दहेज देने की अपेक्षा लड़की को जीवन पर्यन्त अविवाहित रखना पसंद करते हैं, परन्तु किसी ऐसे पुरुष से विवाह करना नहीं पसंद करते जो पत्नी बनाने के लिए धन की मांग करे। गांधी जी नवयुवकों को दहेज विहीन विवाह के लिए प्रोत्साहित करते हैं। दहेज रूपी कलंक से बचने के लिए समाज को जातिप्रथा को छोड़ना और महिलाओं को शिक्षित करना होगा। उसे दूर करने में समाज के लोकमत की भूमिका भी महत्वपूर्ण होगी। गांधी जी ने ऐसे अभिभावकों की आलोचना की, जो बालिकाओं की शिक्षा के प्रति उदासीन रहते हैं और उसके लिए केवल साधन सम्पन्न वर की ही खोज करने पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। इस बुराई को समाप्त करने के लिए ऐसी शिक्षा प्रणाली अपनाना चाहिए, जिसमें स्त्री शिक्षा पर विशेष बल दिया गया हो।

स्त्रियों के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है, जिससे वे स्वयं और समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकें और देश के सामाजिक और आर्थिक विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे सकें। गांधी जी स्त्री-शिक्षा में सबसे बाधक तत्व पर्दा-प्रथा को मानते हैं। सतीत्व की रक्षा पर्दे की दीवार से नहीं की जा सकती, उसका विकास तो भीतर से ही होना चाहिए और अवश्य ही उसका मूल्य तभी कुछ माना जाएगा, जब तक सभी प्रकार के अवांछित आकर्षणों का सामना करने योग्य न बन जाये। स्त्री के सतीत्व की रक्षा के लिए

पुरुषों की आन्तरिक शुद्धता आवश्यक है, न कि स्त्रियों का पर्दा करना। गांधी जी की सलाह है कि यदि स्त्रियाँ को मालूम होने लगे कि उनके शील और धर्म पर खतरा होने वाला है, तो उनमें नर-पशु के आगे आत्मसमर्पण करने के बजाए मर जाने का साहस होना चाहिए, इस तरह वह अपनी आत्मरक्षा करने का साहस रख सकती हैं।

जहां तक बाल-विधवाओं का सवाल है, चूँकि इसके लिए उनके अभिभावक जिम्मेदार हैं, अतः उन्हें स्वयं बाल-विधवाओं का विवाह कर देना चाहिए। यदि एक विधुर को पुनर्विवाह का हक प्राप्त है तो यह सुविधा विधवाओं और विशेष कर बाल-विधवाओं को अवश्य ही मिलनी चाहिए। गांधी जी के अनुसार यदि हम हिन्दू धर्म को बचाना चाहते हैं तो हमें जबरदस्ती (बाल-विवाह द्वारा) के वैधव्य का यह जहर समाज से निकाल कर बाहर कर देना चाहिए। बाल-विवाह के समान ही भ्रूण-हत्या का मूल कारण दहेज-प्रथा है, जिसने समाज को कलंकित कर दिया है। गांधी जी भ्रूण-हत्या को वास्तव में विषयाशक्ति का परिणाम मानते हैं। लैंगिक समानता के द्वारा भ्रूण-हत्या को रोका जा सकता है, जो कि एक कानूनन अपराध है। पुत्र-पुत्री को बराबर अवसर मिलने चाहिए, जिससे दोनों का विकास समान रूप से हो सके। “कं नयति इति कन्या”। कं यानी ब्रह्मा, ब्रह्म की ओर ले जाने वाली कन्या। पुत्री के लिए इतना सुंदर शब्द हमने किसी भी भाषा में नहीं देखा है।

यदि हमें स्त्री का मार्ग प्रशस्त करना है तो इन सामाजिक बुराइयों को इतिहास मानकर इनकी पुनरावृत्ति नहीं करनी चाहिए। यदि हम वास्तव में नारी को समाज में उच्च और सम्मानीय स्थान देना चाहते हैं, तो हमें उसको जन्म से ही सभी अधिकार देने होंगे। आखिर अपने जन्मसिद्ध अधिकार को प्राप्त करने में स्त्रियों को इतना संघर्ष क्यों करना

पड़ता है? नारी से जन्म लेने वाले पुरुष का दर्प से अपनी जननी को अबला करना और स्त्रियों के छीने हुए अधिकार बड़ी उदारता से उसे वापस देने का वायदा करना कितना विचित्र, दुखद और हास्यजनक है? गांधी जी ने कहा था कि भविष्य अहिंसा का युग होगा क्योंकि 'स्त्री-शक्ति' से जुड़ा है। चूंकि 'अहिंसा' के गुण केवल स्त्रियों में ही मिलते हैं। परमाणु अस्त्रों के विनाशकारी प्रभावों को जानने के बाद अहिंसा आज के समाज और समय की जरूरत बन गई है। अगर हमें अहिंसा को अपनाना है तो केवल महिलाएं ही हमारे मार्ग का नेतृत्व कर सकती हैं। नारी अबला नहीं, उसे अपने अस्तित्व की पहचान के अतिरिक्त अन्य किसी सहारे की जरूरत नहीं है। महिलाओं को पुरुषों की अपेक्षा शिक्षित करना ज्यादा जरूरी है, क्योंकि स्त्री को शैशवकाल से ही बच्चे को शिक्षित करना होता है। राष्ट्र में समरसता और सामाजिक न्याय स्थापित करने के लिए नैतिक और मनोवैज्ञानिक वातावरण बनाना जरूरी है जो केवल महिलाओं की भागीदारी से ही सम्भव है। विश्वशांति को सच्चे अर्थ में स्थापित करने के लिए पुरुष को अपने स्वार्थ और अहं को भुलाकर समाज के हित में महिलाओं की भागीदारी को स्वीकार करना आवश्यक है। किसी समाज के आदर्श कितने सुदूर क्यों न हों, यदि वहां स्त्री का अनादर होता है तो, वह रेत के महल की तरह गिरे बिना नहीं रह सकता।

आज मानव को दो में से एक मार्ग चुनना है। वह या तो पशुता के आलिंगन में ही विभोर होकर बर्बरता की ओर झुक जाये और अपना संहार स्वयं ही कर ले अथवा समाज में हिंसा के स्थान पर अहिंसा की स्थापना कर नई कल्पनाओं, नवादशों और उत्तम भावनाओं की नींव पर नवजगत की रचना करे, जिसमें स्त्री-पुरुष समान पद और गौरव

का उपभोग करें तथा वास्तविक रूप से सामाजिक प्रगति और विकास का मार्ग प्रशस्त करें। यही नवीन धारणा और नैतिक-शक्ति (स्त्री) है, जिसे लेकर महात्मा गांधी जी जगत के सम्मुख उपस्थित हुए। गांधी जी के इस नैतिक दर्शन को व्यवहारिक जीवन में उतारकर मानव एक नवीन उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। गांधी जी ने सामाजिक विकृत व्यवस्था के परिवर्तन से व्यक्ति में प्रेम, त्याग, करुणा, सहयोग, सहानुभूति के विकास के साथ ऐसी मनोवृत्ति के विकास की बात कही, जिसमें जीव जगत एवं प्रकृति के प्रति भी प्रेम और करुणा का भाव उद्भव हो सकता है।

अतः गांधी जी के विचार के अनुरूप—“एक बार मैं एक किन्तु सशक्त कदम,” महिलाओं के ये कदम समाज के विकास के नये सोपान होंगे। इस प्रकार स्त्री को अपनी परम्परा का नया इतिहास लिखना होगा। स्त्री को विरासत में मिले विचारों को रूपान्तरित करना होगा, जिसकी छाया तले पुरुष को आज भी धूप और बारिश से राहत मिलती है। इस प्रकार महात्मा गांधी जी के विचारों की अभिव्यक्ति सुभद्राकुमारी चौहान की इन पंक्तियों से की जा सकती है—

हम हिंसा का भाव त्याग कर विजयी वीर अशोक बनें।

काम करेंगे वही कि जिसमें लोक-परलोक बने। ●

“आज जिस अग्नि के समक्ष खड़े होकर तुम इतनी प्रसन्नता से नाच रहे हो, उसे प्रज्ज्वलित करने में पंडित मदन मोहन मालवीय जी की हड्डियों ने चन्दन की लकड़ी का काम किया है, इसे कभी मत भूलना।”

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

नव भारत के निर्माण में युवा वर्ग की भूमिका : स्वामी विवेकानन्द की आदर्श दृष्टि

संध्या त्रिपाठी

भारत वर्ष दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है। संस्कृति और ज्ञान के अथाह सागर से ही भारत को जगद्गुरु के नाम से जाना जाता है। यह वह देश है जहाँ भगवान तो क्या पत्थर भी पूजे जाते हैं। यहाँ के कण-कण में भगवान व्याप्त हैं। देश की स्वतंत्रता के पश्चात नारी शिक्षा उत्थान, आर्थिक विकास, सुरक्षा, चिकित्सा, उद्योग, तकनीक, कृषि आदि के उत्थान के लिए अनरवत प्रयास किये गये ताकि एक नये भारत का निर्माण हो सके।

वर्तमान पीढ़ी के युवाओं में एक नये भारत का आगमन हो रहा है। ऐतिहासिक परिदृश्य देखने से हमें यही ज्ञात होता है कि राष्ट्रों की भाग्य लिपियों को युवाओं ने ही अपने रक्त स्याही से लिखा है। वर्तमान में भी युवा पीढ़ी अधिक बुद्धिमान, अधिक जीवन्त, अधिक चौकस व अधिक निर्भीक है। ये सब उत्कृष्ट चारित्रिक गुण हैं। लेकिन यह समाज का दुर्भाग्य है कि वह अपने युवा अंग को उत्तरदायित्व, निर्वहन व मूल्यों का सही एवं सामयिक प्रशिक्षण नहीं दे पा रहा है। इसलिए इनमें सामाजिक चेतना व सामाजिक दायित्व तथा अन्य व्यक्तियों और समुदायों के प्रति अभिरुचि का इन युवाओं में अभाव हो गया है। ये असहिष्णुता तथा आक्रमण शीलता के स्वस्थ स्तर से कहीं अधिक का प्रदर्शन करते हैं। वर्तमान में हमारे युवाओं में नैतिक मूल्यों के बोध का अभाव है ये उद्विग्न हैं, नास्तिक हैं इसलिए इनके नैतिक मूल्यों का पतन हो रहा है। इसका परिणाम यह है कि यह स्वयं अपने तथा राष्ट्र के लिए एक समस्या हो गये हैं। लेकिन हमें जीवन्त वर्तमान की कठिनाइयों का सामना करने तथा एक गौरवशाली भविष्य के निर्माण हेतु

युवा वर्ग का आह्वान करना होगा। आज के युवा समाज जिसमें देश का भविष्य निहित है हमें ऐसा प्रयास करना चाहिए ताकि उनके भीतर जगी हुई प्रेरणा तथा उत्साह ठीक पथ पर संचालित हो। नहीं तो शक्ति का ऐसा अपव्यय या दुरुपयोग हो सकता है जिससे मनुष्य की भलाई के स्थान पर बुराई ही होगी।

राष्ट्र निर्माण के पुरोधा स्वामी विवेकानन्द जी जैसे महापुरुष ने भी नव भारत के निर्माण के लिए युवा वर्ग की शक्ति पर अधिक जोर दिया। इन्होंने इस बात पर बल दिया कि अतीत के नींव पर ही राष्ट्र निर्माण करना होगा। अतीत के नींव के बिना सुदृढ़ भविष्य का निर्माण नहीं किया जा सकता है। यदि युवा वर्ग में अपने विगत इतिहास के प्रति चेतना न हो तो उनकी दशा प्रवाह में पड़े लंगरहीन नाव के समान होगी। ऐसी नाव जो कभी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचती। जिस आदर्श को लेकर राष्ट्र बचा हुआ है वर्तमान युवा पीढ़ी को उसी आदर्श को अपनाना होगा ताकि वे देश के महान अतीत के साथ सामंजस्य बनाकर लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकें। युवाओं की ऊर्जाएँ अभी अनुशासनहीन प्राकृतिक शक्तियों की तरह उसी प्रकार कार्य करती हैं जैसा कि बाढ़ों और भूकम्पों में अनुभव करते हैं। इन युवाजनों की ऊर्जाओं को राष्ट्रोन्मुखी संकल्प के द्वारा आत्म-अनुशासन से रचनात्मक बनाना होगा। हमारी वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी मनुष्य की सुख-शान्ति और मंगल की वृद्धि के लिए प्रकृति की इन मूल शक्तियों को अनुशासित करने में लगी है। हमें अपने युवाओं की ऊर्जाओं को भी राष्ट्र के कल्याण के संवर्धन

हेतु अनुशासित करने के लिए एक ऐसी ही आध्यात्मिक प्रौद्योगिकी की आवश्यकता है।

“यह हमारे युवाओं की नैतिक शिक्षा ही है जिसके द्वारा उनके राष्ट्रीय परिवेश के पुनर्निर्माण के लिए सामाजिक दायित्व के महत्त्व का उन्हें अनुभव कराया जाता है, जिसके द्वारा अभी अपनी जिन विशाल ऊर्जाओं को अधिकांश रूप में वे विध्वंसक एवं आत्मविलोपन के रूप में व्यक्त करते हैं उन ऊर्जाओं को वे एक सर्जनात्मक एवं रचनात्मक दिशा प्रदान करना सीखते हैं, तथा जिसके द्वारा वे न केवल राष्ट्र की निराशा होना बन्द करते हैं बल्कि एक ज्योतिर्मय आशा बन जाते हैं।”

राष्ट्र के ज्योतिर्मय उत्थान के लिए स्वामी विवेकानन्द ने एक ऐसे तेजस्वी युवा समुदाय की आवश्यकता पर बल दिया जो देश के पुनर्गठन के लिए अपने प्राणों की बलि दे सके। वे युवकों में लोहे सदृश मांसपेशियों तथा फौलादी दृढ़ता के हिमायती थे। शारीरिक स्वास्थ्य पर ध्यान देने के लिए युवकों को प्रोत्साहित करते हुए वे कहते हैं कि फुटबाल खेलकर गीता को अच्छी तरह समझा जा सकता है। उनकी मंशा यह थी कि स्वस्थ विचारों से युक्त स्वस्थ शरीर वाला व्यक्ति ही गीता के जीवनदायी सन्देशों को भली-भाँति आत्मसात् कर सकता है। उन्होंने शारीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ इस बात पर भी बल दिया कि वयस्क लोगों को युवाओं को स्पष्ट मार्ग दिखाना होगा। वर्तमान में यह परिदृश्य उभरकर सामने आ रहा है कि वयस्क लोगों को युवा वर्ग के केवल दोष ही दिखाई देते हैं। वे यह जानने का प्रयास नहीं करते कि युवक-युवतियाँ क्या सोचते हैं तथा क्या करना चाहते हैं? इसलिए वयस्कगण युवा वर्ग की निन्दा करते हैं और इसके फलस्वरूप युवा वर्ग भी बड़ों की उपेक्षा करता है। इस प्रकार यह प्रतिकारात्मक व्यवहार का रूप ले लेती है। यौवन के भीतर जो शक्ति है, वह भली भी

नहीं और बुरी भी नहीं; ठीक उपयोग करने पर वह कल्याणकारी होगी तथा दुरुपयोग करने पर विध्वंसक। इसलिए प्राज्ञ वयस्कगण यदि अपने पुराने अनुभवों के आलोक में वर्तमान युवा वर्ग को देखें और उसी अनुभव के आधार पर सहानुभूति व ममता के साथ नवयुकों के भाव को समझने का प्रयास करें तो इसका फल अच्छा होगा। दूसरी ओर युवाओं को भी समझना चाहिए कि उन्हें वयस्कों की आवश्यकता है। पिछले अनुभवों की धारा को हम वहन करते हैं जिसे संस्कार कहा जाता है और यह संस्कार ही मानसिक प्रवृत्तियों का उद्गम है। इसी संस्कार की नींव पर हमें अपनी प्रगति का मार्ग निर्धारित करना चाहिए। वर्तमान में युवा वर्ग ने अपनी यौवन की शक्ति से चलना आरम्भ किया है, उनकी ओर वयस्कों को ध्यान देने की आवश्यकता है क्योंकि कहीं वे दिग्भ्रमित होकर अन्धे के समान आगे न बढ़ जायं और पथभ्रष्ट न हो जायं। इनका पथप्रदर्शन वयस्कों को बहुत ही सर्तकता से करना चाहिए।

वर्तमान में नवभारत के निर्माण में अनेक कुरीतियाँ एवं समस्याएँ उभरकर सामने आ रही हैं। जनसंख्या वृद्धि, दहेज प्रथा, जातिवाद, अशिक्षा, गरीबी, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयतावाद, भाषावाद, ये सभी राष्ट्र के लिए अभिशाप बनी हुए हैं। युवाओं को संगठित रूप से आगे बढ़कर इन समस्याओं के समाधान का प्रयास करना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द का मत है कि युवाओं का भविष्य उज्ज्वल है, उन्हें अपने आप पर विश्वास रखते हुए यह ध्यान रखना होगा कि प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है तभी ये भारतवर्ष का पुनःउत्थान कर सकेंगे। नव भारत के निर्माण के लिए हमारे युवकों को अपने शरीर को बलिष्ठ बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। बलशाली, स्वस्थ, व तीव्र मेधा वाले युवकों की देश को ज्यादा आवश्यकता है। हमारे युवाओं को

“शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्” यह युक्ति कभी नहीं भूलनी चाहिए। प्रत्येक युवा वर्ग अपने जाति, देश व राष्ट्र और समग्र मानव समाज के कल्याण हेतु अपने आत्मोत्सर्ग के लिए तैयार रहे। उनका मानना है कि नवयुवकों द्वारा ही भारत का उद्धार होने वाला है। उनके शब्दों में “ऐ वीर, साहस का अवलम्बन करो गर्व से कहो कि मैं भारतवासी हूँ; और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई हैं। तुम दृढ़ता से कहो कि अज्ञानी, दरिद्र, ब्राह्मण, चाण्डाल सभी भारतवासी मेरे भाई हैं; भारतवासी मेरे प्राण हैं; भारत के देवी-देवता मेरे ईश्वर हैं; भारत का समाज मेरे बुढ़ापे की काशी है।” स्वामी विवेकानन्द का युवाओं के लिए महत्त्वपूर्ण सन्देश है— ‘उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरानिवोधत’ उठो, जागो लक्ष्य को प्राप्त किये बिना रुकना नहीं। अतीत के भारतवर्ष से प्रकाश का विकिरण हो रहा है और यही हमारा पथ प्रदर्शक है। आज हमारे देश के युवा पीढ़ी में रजोगुण का समावेश हो गया है। स्वामी विवेकानन्द भारत के प्रत्येक युवा को अपने आत्म-अनुशासन तथा नैतिक-बोध के द्वारा आगे बढ़ने एवं अपनी ऊर्जाओं को सत्वगुण के उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित करने का निर्देश देते हैं। इस रजोगुण को दूर करने का युवा वर्ग को प्रयास करना चाहिए। युवा वर्ग की अधिकांश जीवन ऊर्जा आज प्रयोजनहीनता तथा उद्देश्यहीनता के रोग से ग्रस्त है। यदि यह रोग काफी लम्बे समय तक खिचता चला गया तो यह व्यक्ति और उसके समाज के लिए महाअनर्थकारी सिद्ध होगा। इस ऊर्जा को रचनात्मक बनाने का एक मात्र तरीका यह है कि इसे अगले उच्चतर स्तर तक विकसित कर दिया जाय। तब यह ऊर्जा मानव प्रकृति के सत्वगुण के स्तर के अनुशासन और नियंत्रण के अधीन आ जायेगी और फिर त्याग और सेवा के भाव से युक्त एक समाजोन्मुखी संकल्प के रूप में यह अभिव्यंजित होगी। यही वह

आध्यात्मिक शिक्षा है जिसे हमारे युवा वर्ग को अपने लिए और स्वयं अपने द्वारा अधिकृत कर लेना चाहिए। युवाओं की प्रथम व प्रधान आवश्यकता है—चरित्र गठन। इन्हें यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि न धन का मूल्य है, न नाम का, न विद्या का, केवल चरित्र ही कठिनाई रूपी पत्थर की दीवारों का छेद कर सकता है। जिन लोगों में सत्य, पवित्रता और निःस्वार्थरता विद्यमान है, उन्हें कोई भी शक्ति कोई क्षति नहीं पहुँचा सकती। इन गुणों के रहने पर, चाहे समस्त विश्व की किसी व्यक्ति के विरुद्ध क्यों न हो जाय, वह अकेला ही उसका सामना कर सकता है। वर्तमान में आवश्यकता इस बात की है कि युवा वर्ग स्वामी विवेकानन्द जी के सन्देश को आत्मसात कर राष्ट्र की प्रगति के पथ पर आगे बढ़े। भारत के नवोत्थान के लिए शूरवीर चरित्रवान, साहसी जैसे गुणों को आत्मसात कर युवाओं को आगे बढ़कर अपना सम्पूर्ण योगदान देना चाहिए। हम सबका परम कर्तव्य है कि—

“निष्ठावर कर दें हम सर्वस्व
हमारा प्यारा भारतवर्ष” ●

हमें जीवन निर्माण करने वाले,
‘मनुष्य’ बनाने वाले, चरित्र गठन करने
वाले भावों को आत्मसात् करना
चाहिए। यदि तुम पाँच ही भावों को
पचाकर तदनुसार जीवन और चरित्र
गठित कर सके हो, तो तुम्हारी शिक्षा
उस आदमी की अपेक्षा बहुत अधिक
है, जिसने एक पूरे पुस्तकालय को
कण्ठस्थ कर रखा है।

स्वामी विवेकानन्द जी

आतंकवाद और महात्मा गाँधी

पंकज कुमार सिंह

यदि आज पूरा विश्व आतंकवाद का शिकार होता नजर आ रहा है; तो शायद इसलिये कि महात्मा गाँधी ने पूरे विश्व के लिए जिस समता मूलक अहिंसक समाज व्यवस्था की संरचना सुझायी थी, उसे किसी ने अंगीकार नहीं किया और हम अपने पहले की लूट खसोट की प्रवृत्ति को यथावत (बरकरार) रखते हुए दादागिरी की अपनी कोशिश में लगे रहे। परिणाम स्वरूप इन्हीं कोशिशों ने आज के आतंकवाद को जन्म दिया। आतंकवाद में मानवीय मूल्यों, मान्यताओं, सिद्धान्तों और आदर्शों के लिए कोई स्थान नहीं होता। बच्चे, बूढ़े, औरतें एवं जवान सभी इसके शिकार होते हैं। इसका एकमेव उद्देश्य अराजकता फैलना होता है।

ऐसे में सत्य और अहिंसा के पुजारी महात्मा गाँधी के जीवन की एक-दो घटनाओं का जिक्र करना चाहूँगा। गुजरात की बोरसद तहसील जानलेवा प्लेग के महामारी की चपेट में आ गयी थी। सरदार बल्लभ भाई पटेल अपने साथियों के साथ वहाँ सफाई और चूहे मारने को तैयार नहीं हो रहे थे। सरदार ने महात्मा जी को लिखा “लोगों से आप कहें कि वे चूहे मारें, वरना लोग मरते रहेंगे।” महात्मा जी ने लिखा, “छोटे-छोटे मच्छर को भी मेरे ही समान जीने का अधिकार है। लेकिन मनुष्य का जीवन अपूर्ण है। होना तो यह चाहिए कि मच्छर होने ही न दें, घर में चूहे आये ही नहीं। मैं क्या कहूँ चूहों को मारना चाहिए।”

महात्मा जी लिख कर ही चुप नहीं रहे। स्वयं बोरसद के शिविर में जा दाखिल हुए। चूहे मारने के अभियान में तेजी आयी, प्लेग का प्रकोप टला। क्या आतंकवाद का प्रकोप प्लेग से

कम प्रलयकारी है? इसी क्रम में सुप्रसिद्ध अमरीकी पत्रकार लुई फिशर की “दी लाइफ ऑफ महात्मा गाँधी” में इससे सम्बन्धित एक दिलचस्प घटना का उल्लेख है। यह घटना हमें अहिंसक गाँधी की आतंकवादियों के प्रति दो ठूक राय स्पष्ट करती है।

अहमदाबाद के मिल मालिक अम्बालाल साराभाई ने अपने मिल के अहाते में घूमने वाले साठ खूंखार लावारिश कुत्तों को पकड़वा कर मरवा डाला। कुत्तों को मरवाने के बाद साराभाई द्रवित हो गये और उनका मन दुःखी हो गया। उन्होंने अपने मन की व्यथा गाँधी जी के सामने रखी। गाँधी जी ने कहा— “इसके सिवा और चारा ही क्या था?”

अहमदाबाद की जीव दया समिति ने एक क्रोध भरे पत्र में गाँधी जी को लिखा— “जब हिन्दू धर्म किसी भी जीव की हत्या करना पाप मानता है, फिर भी आप बावले कुत्तों को मारना ठीक समझते हैं, क्योंकि वे आदमियों को काटेंगे और उनके काटने से दूसरे कुत्ते भी बावले हो जायेंगे?”

गाँधी जी ने इसे यंग इंडिया में प्रकाशित कर दिया और इसके उत्तर में डेढ़ पृष्ठों में एक लेख छपा— “हम जैसे अपूर्ण और भूल करने वाले मनुष्यों के सामने पागल कुत्तों को मारने के अलावा दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है। कभी-कभी हमारे सामने उस आदमी को भी मारने का अनिवार्य कर्तव्य आ जाता है जो लोगों को मारता हुआ पाया जाय।”

इस लेख पर रोष भरे पत्रों की बाढ़ आ गई। इतना ही नहीं लोग आ-आ कर गाँधी जी को गालियाँ सुनाने लगे। किन्तु गाँधी जी अपनी बात पर अड़े रहे। कुत्तों के बारे में डाक आना जारी

रही। यंग इंडिया के तीसरे अंक में गाँधी जी ने इस विषय पर तीन पृष्ठ लिख डाले। उन्होंने लिखा— “कभी—कभी प्राण—हरण भी कर्तव्य हो सकता है। मान लीजिए कि कोई आदमी बदहवास होकर तलवार हाथ में लिए बेतहाशा दौड़ता फिरे, जो भी सामने आये उसे मार डाले और उसको जिंदा पकड़ने की हिम्मत किसी में न हो तो इस दिवाने को यमपुरी पहुँचाने वाला समाज कृतज्ञता का पात्र होगा।”

अब अहमदाबाद की जीव दया समिति का काम आतंकवादियों को न्यायालय द्वारा सजा—ए—मौत देने पर मानवाधिकार वाले बखूबी कर ले रहे हैं। राजनीतिक पार्टियाँ भी अपना—अपना बोट—बैंक बढ़ाने के प्रलोभन का शिकार हो जाती हैं, और दो खेमों में बँट जाती हैं। इसके फलस्वरूप यदि यह क्रम जारी रहा तो विमान अपहरण होते रहेंगे और मानवाधिकार की दुहाई देने वालों के सामने ही आतंकवादी बम विस्फोटों में निरीह लोगों की जानें जाती रहेंगी। आतंकवादी अपने साथियों को मुक्त कराने के लिए निर्दोष लोगों को बन्धक बनायेंगे और इन खूंखार आतंकवादियों को जिन्हें पकड़ने के प्रयास में न जाने कितने सिपाही शहीद हुए, को छोड़ने के लिए सरकार विवश होती रहेगी।

यहाँ महात्मा गाँधी का सत्य—अहिंसा का व्यवहारिक पक्ष बड़ा ही स्पष्ट है। बौद्ध और जैन के सत्य—अहिंसा का सिद्धान्त संन्यासियों के लिए हो सकता है, किन्तु गाँधी जी का कभी नहीं। उनके प्रयोग व परिणाम हम सबके सामने हैं। हमने उन्हें पढ़ने और ठीक से समझने की कोशिश नहीं की है। फलस्वरूप यदि “मजबूरी का नाम महात्मा गाँधी” आज हमारे पहले से ही धनी मुहावरों के भंडार में जुड़ गया है, तो यह महात्मा गाँधी की कमजोरी का नहीं वरन हमारी कमजोरी की निशानी है। यह महात्मा गाँधी की सोच की मजबूती को समझने की

हमारी खुद की कमजोरी अधिक उजागर होती है।

आतंकवाद अपने आप में भयंकर विष है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति और उद्देश्य दोनों ही नकारात्मक और विध्वंसात्मक हैं। आतंकवाद अपने समर्थकों और विरोधियों दोनों को बराबर नुकसान पहुँचाता रहा है। अमेरिका, रूस, इंग्लैण्ड, फ्रांस, चीन सभी इसी दो मुँहे आतंकवाद के शिकार हैं। गाँधी जी इसके निराकरण का समाधान बहुत पहले बता चुके हैं। आतंकवाद के खिलाफ कठोरतम रुख और दण्ड व्यवस्था ही कामयाब होगी। इसके विपरीत उसके प्रति उदारता, दया और करुणा की भावना सदैव आतंकवाद को प्रोत्साहन प्रदान करती रहेगी। ●

कायरता की अपेक्षा बहादुरी के साथ शरीरबल का प्रयोग करना कहीं श्रेयस्कर है।

मेरा, मतलब यह है कि हमारी अहिंसा उन कायरों की न हो जो लड़ाई से डरते हैं, खून से डरते हैं, हत्यारों की आवाज से जिनका दिल कांपता है। हमारी अहिंसा तो पठानों की अहिंसा होनी चाहिए।

हिंसा के मुकाबले में लाचारी का भाव आना अहिंसा नहीं, कायरता है। अहिंसा को कायरता के साथ मिला नहीं देना चाहिए।

जैसे हिंसा की तालीम में मारना सीखना पड़ता है, इसी तरह अहिंसा की तालीम में मरना सीखा पड़ता है।

गांधी जी

मूल्य विमर्श के पाठकों एवं लेखकों से निवेदन

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक पूज्य पं० मदन मोहन मालवीय जी के शिक्षा दर्शन एवं उनके जीवन आदर्शों से प्रेरित होकर मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र की स्थापना सन् १९९१ में की गयी। इस केन्द्र का उद्देश्य है - उच्च शिक्षा से जुड़े आज के प्रबुद्धजनों की मूल्य चेतना का उदात्तीकरण। इस भावना से प्रेरित होकर यह केन्द्र कई कार्यक्रम विगत १५ वर्षों से चला रहा है।

इन कार्यक्रमों से उत्पन्न मूल्यगत विचारों का विस्तार करने के लिए 'मूल्य विमर्श' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया है। हम चाहते हैं यह पत्रिका मूल्यों के प्रति चिंतित एवं सचेत जनों के बीच विचार-विमर्श का एक सशक्त माध्यम बनकर उभरे। हम आपका आवहन करते हैं कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपने विचारों एवं अनुभवों को लेखबद्ध करके पत्रिका में प्रकाशन हेतु हमें भेजें।

निम्नांकित बिन्दुओं पर आधारित लेखों का हम स्वागत करते हैं -

- ★ आज के जीवन से जुड़े मूल्यगत प्रश्नों पर नवीन चिन्तना।
- ★ समसामयिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक परिवर्तनधियों का मूल्यों की दृष्टि से विश्लेषण।
- ★ ऐसे प्रेरणादायक संस्मरण, विचार जो यह संदेश देते हों कि कैसे नैतिक एवं मानवीय मूल्यों के आधार पर हम एक सुखी, सफल, सार्थक जीवन जी सकते हैं तथा कैसे एक सभ्य मानवोचित समाज की रचना में योगदान कर सकते हैं।

आज हम भारत को एक उत्तम गौरवशाली देश के रूप में विकसित करने के लिए नाना प्रकार के प्रयास आर्थिक, सामाजिक क्षेत्रों में कर रहे हैं, परन्तु वास्तविक सामाजिक, मानवीय प्रगति के लिए इन सभी प्रयासों का आधार नैतिक एवं मानवीय मूल्य ही हो सकते हैं। हम आशा करते हैं कि आपके सहयोग से यह पत्रिका इन मूल्यों के सृजन एवं संवर्द्धन में अपना योगदान कर सकेगी।

सच्चरित्र व्यक्ति में मानव स्वभाव का सर्वोच्च रूप दिखायी देता है। उसी में नैतिक विधान अपना मूर्त रूप लेता है। वे ही किसी समाज की नैतिक अंतरात्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं। सच्चरित्र व्यक्ति ही एक सुव्यवस्थित समाज की उत्प्रेरक शक्ति होते हैं, क्योंकि नैतिक मूल्य मर्यादाओं से ही विश्व का संचालन होता है। किसी देश की शक्ति, उसके उद्योग-धंधे और आर्थिक क्षमता तथा उसकी सभ्यता, ये सभी उसके सदस्यों के व्यक्तिगत चरित्र पर निर्भर करते हैं। वही नागरिकों की सुरक्षा का सशक्त आधार है। समाज की विधि व्यवस्था तथा अन्य सामाजिक संस्थाएँ इसी आधार पर स्थापित और विकसित होती हैं।

मालवीय जी द्वारा १९११ में प्रकाशित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रस्तावना के कुछ अंश



मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र
(MALAVIYA CENTRE FOR ETHICS & HUMAN VALUES)

श्यामाचरण डे निवास, मालवीय भवन संकुल
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

मो0 9450872823, ई-मेल : mmak91@gmail.com, mmak91@rediffmail.com